प्राचीन भारत में सामाजिक एवं राजनैतिक अवधारणा
(कौटिल्य अर्थशास्त्र के विशेष संदर्भ में)

(बुन्देलखण्ड विश्वविद्यालय की पी-एच. डी. उपाधि के लिए प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध)
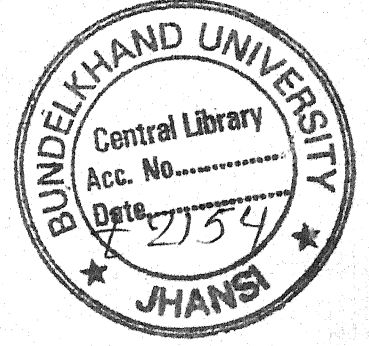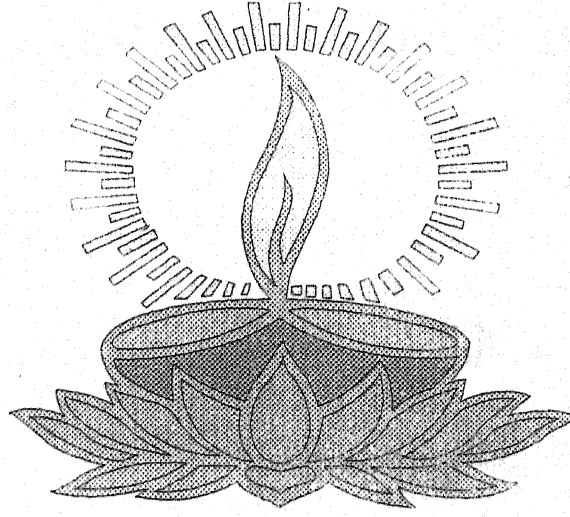
सितम्बर- २००५

शोध निर्देशक-
डॉ. गदाधर त्रिपाठी
रीडर एवं अध्यक्ष : संस्कृत-विभाग
श्री अग्रसेन स्नातकोत्तर महाविद्यालय
मऊरानीपुर (झाँसी) उ0 प्र0

शोधार्थी-
कु0 ममता देवी
पुत्री-श्री छंगालाल आर्य
ग्राम पोस्ट - तिन्दवारी
जिला- (बाँदा) उ0प्र0

संस्कृत-विभाग
श्री अग्रसेन स्नातकोत्तर महाविद्यालय, मऊरानीपुर (झाँसी)
(बुन्देलखण्ड विश्वविद्यालय)

प्रमाण-पत्र

प्रमाणित किया जाता है कि श्री *कु. ममतादेवी* ने प्राचीन भारत में सामाजिक एवं राजनैतिक अवधारणा (कौटिल्य अर्थशास्त्र के विशेष सन्दर्भ में) विषय पर मेरे निर्देशन में निर्धारित समय तक रहकर यह शोध कार्य सम्पन्न किया है। इनका यह कार्य मौलिक एवं स्तरीय होने के साथ-साथ इनकी शोध-दृष्टि को भी प्रमाणित करता है।

मैं इनके जीवन में सतत् साफल्य की कामना करता हूँ।

श्री गणेश जयंती

वि०सं० २०६२

डॉ. गदाधर त्रिपाठी

रीडर एवं अध्यक्ष : संस्कृत-विभाग

श्री अग्रसेन स्नातकोत्तर महाविद्यालय

मऊरानीपुर (झाँसी) उ० प्र०
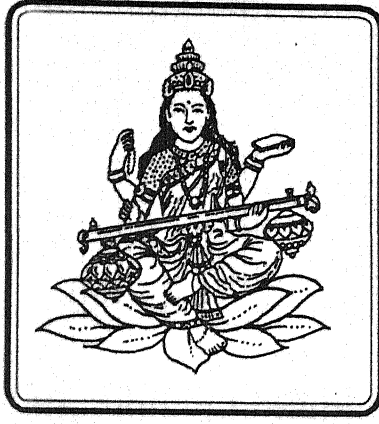
आमुख

प्राचीन विचारकों की पराम्परा में आचार्य कौटिल्य न तो केवल आर्थिक सम्बन्धों और व्यवस्थाओं के विचारक हैं और न केवल वे राजनैतिक अवधारणा के आचार्य हैं। वे एक ऐसे प्रतिष्ठित और स्वीकृत विचारक हैं जो सामाजिक स्वरूप की समग्रता पर अपना दृष्टिकोण व्यक्त करते हैं और समाज को एक ऐसा दिशा निर्देश करते हैं जिसका सम्बन्ध वर्तमान प्रसंग में महत्वपूर्ण रूप से रेखाङ्कित किया जा सकता है। इसी दृष्टि से उल्लिखित विषय पर शोध कार्य किया गया और इसमें यह जानने का प्रयत्न किया गया कि किस रूप में हम आज भी आचार्य कौटिल्य की मान्यताओं को समाज में लागू कर समाज को नई दिशा दे सकते हैं।

यह शोध प्रबन्ध पाँच अध्यायों में विभक्त है, जिसमें इसके पहले अध्याय में प्राचीन भारत के सामाजिक स्वरूप का रेखाङ्कन करने का प्रयत्न किया गया है। इसमें यह देखा गया है कि प्राचीन ऋषि और चिन्तक समाज का एक स्वरूप निर्धारित करने का प्रयत्न कर रहे थे और वे इसे एक आदर्श रूप देना चाहते थे। बाद में इस शोध प्रबन्ध में कौटिल्य कालिक समाज की विवेचना की गई और इसी तारतम्य में अगले अध्यायों में यह देखा गया

कि आचार्य ने सामाजिक स्वरूप को प्रायः उसी रूप में स्वीकार किया जो प्रारम्भ में प्रस्तावित किया गया था। आचार्य ने इसमें इतना अवश्य जोड़ा कि कोई भी समाज बिना आर्थिक पुष्टता और बिना राजनैतिक नीति के पुष्ट नहीं हो सकता और न ही सामाजिकों के हित का सम्पादन कर सकता है। इसके लिये जहाँ आचार्य कौटिल्य ने अर्थ को प्रधानता देते हुए इतना तक कह दिया कि पुरुषार्थों में अर्थ ही प्रधान है अथवा अर्थ ही पुरुषार्थ है, वहीं उन्होंने यह भी कहा कि आर्थिक विषमताओं की विसंगतियों को दूर करने के लिये राजा का आचरण श्रेष्ठ होना चाहिये और राजनीति शुचिता से परिपूर्ण होनी चाहिये। यदि राजा साधु स्वभावी नहीं होगा तो प्रजा भी सुपथ पर नहीं चलेगी और आर्थिक विसंगतियों पर भी नियंत्रण नहीं किया जा सकेगा। इस रूप में आचार्य ने धर्म की जो व्याख्या की वह कर्तव्य रूप में उनके द्वारा की गई व्याख्या महत्वपूर्ण है और इसका अनुकरण करके समाज को एक सुसंगत रूप दिया जा सकता है। इस प्रकार से इस शोध ग्रन्थ के अन्तिम अध्याय में वर्तमान प्रसंग में कौटिल्य के विचारों को संगत रूप में देखते हुए इसे पूरा किया गया है।

मेरा यह विश्वास है कि भगवान् शिव और भगवती शिवा की कृपा से मैं इस कार्य की ओर अग्रसर हुई और कर्तव्य निष्ठ पिता श्री छंगालाल आर्य तथा कर्मशीला माता श्रीमती सावित्री देवी की प्रेरणा से यह कार्य पूरा भी हुआ।

मुझे श्री अग्रसेन स्नातकोत्तर महाविद्यालय के संस्कृत विभाग के अध्यक्ष डॉ. गदाधर त्रिपाठी के मार्ग दर्शन के प्रति अपना आभार व्यक्त करना है जिनके निर्देशन में यह शोधग्रन्थ पूर्ण हो सका। इसी तरह से मेरे लिये मेरे अग्रज श्री सुभाष चन्द्रा भी परम आदर्श हैं क्योंकि उनकी सक्रिय सहयोगवृत्ति से मैं यहाँ तक पहुँच सकी। अन्त में मैं उन सभी विद्वानों और आचार्यों का आभार व्यक्त करती हूँ जिनके ग्रन्थों का सहयोग इसमें लिया गया और श्री लक्ष्मीकान्त गुप्त की भी आभारी हूँ जिन्होंने अपने कौशल से इसे टंकित कर तैयार किया।

ममता देवी

शोधार्थी-
कु0 ममता देवी
पुत्री-श्री छंगालाल आर्य
ग्राम पोस्ट - तिन्दवारी
जिला- (बाँदा) उ0प्र0

उद्घृत ग्रन्थ-संकेत-सूची

१.	अ० पु०	अग्नि पुराण
२.	अ० रा०	अथर्ववेद राजनीति
३.	अ० शा०	अभिज्ञान शाकुन्तलम्
४.	अथर्व०	अथर्ववेद
५.	अव० भा० सं०	अरब और भारत सम्बन्ध
६.	आ० ध० सू०	आपस्तम्ब धर्मसूत्र
७.	ई०द्वा० उ०	ईशादि द्वादशोपनिषद्
८.	उपनिषद् अंक	उपनिषद् अंक (कल्याण)
९.	उ० स० सं०	उपनिषत् कालीन समाज एवं संस्कृति
१०.	ऋक्	ऋग्वेद
११.	ऐत० उ०	ऐतरेयारण्यकोपनिषद्
१२.	ऐ० ब्रा०	ऐतरेय ब्राह्मण
१३.	क०जी०द०	कण्व का जीवन दर्शन
१४.	का०	काशिका
१५.	कठ० उप०	कठोपनिषद्
१६.	का० नी०	कामन्दकीयनीति
१७.	कौ० उप०	कौषीतकि उपनिषद्
१८.	कौ०अ०	कौटिलीय अर्थशास्त्र
१९.	कौ०उ०स०अ०	कौटिल्य का अर्थशास्त्र (समीक्षात्मक अध्ययन)

२०. कौ०यु०द०	कौटिल्य का युद्ध दर्शन
२१. गौ० ध०सू०	गौतम धर्मसूत्र
२२. छा० उ०	छान्दोग्योपनिषद्
२३. ज०भा० सं०	जातक कालीन भारतीय संस्कृति
२४. तै०उ०	तैत्तरीय उपनिषद्
२५. तै० ब्रा०	तैत्तरीय ब्राह्मण
२६. तै०सं०	तैत्तरीय संहिता
२७. थ्यो० एशि०	थ्योरी आफ गर्वन्मेन्ट इन एशिण्ट इण्डिया
२८. द० कु० च०	दशकुमार चरितम्
२९. ध०इ०(१)	धर्मशास्त्र का इतिहास (प्रथम भाग)
३०. पं० तं०	पञ्तन्त्रम्
३१. प०पु०	पदम् पुराण
३२. पा० का० भा०	पाणिनिकालीन भारतवर्ष
३३. प्र०उ०	प्रश्नोपनिषद्
३४. प्र. भा. सा. सं.	प्राचीन भारत की सांस्कृतिक भूमिका
३५. प्रा० भा०	प्राचीन भारत
३६. प्रा.भा. रा. वि.	प्राचीन भारतीय राजनीतिक विचार एवं संस्थाएँ
३७. प्रा. रा. न्या.	प्राचीन भारत राज्य और न्यायपालिका

३८. भ. गी०	श्रीमद्भगवत गीता
३६. भा.इ.रु. रे.	भारतीय इतिहास की रूप रेखा
४०. भा. सं. वि.	भारतीय संस्कृति का विकास औपनिषद् धारा
४१. भा. सै. इ.	भारतीय सैन्य इतिहास
४२. म०स्मृ०	मनु स्मृति
४३. म०पु०	मत्स्य पुराण
४४. म.भा.शा.प.	महाभारत
४५. मार्क.	मार्कण्डेय पुराण
४६. मिता.	मिताक्षरा
४७. मुण्ड.	मुण्डकोपनिषद्
४८. मै. सं.	मैत्रायणी संहिता
४६. या. स्मृ.	याज्ञवल्क्य स्मृति
५०. रघु.	रघुवंश महाकाव्यम्
५१. रा.वि.सि.	राजनीति विज्ञान के सिद्धान्त
५२. रा.वि.मू. त.	राजनीतिं विज्ञान के मूलतत्त्व
५३. वाचस्पत्यम्	वाचस्यत्यम् भाग-६
५४. वा.रा.रा.वि.	वाल्मीकि रामायण में राजनीतिक विचार
५५. वा.रा.	वाल्मीकि रामायण
५६. वि.पु.(१)	विष्णु पुराण प्रथम खण्ड
५७. वृ.हि.को.	वृहत्त् हिन्दी कोश
५८. वृ.उप.	वृहदारण्यकोपनिषद्

५९. वे.का.रा. व्या.	वेदकालीन राज व्यवस्था
६०. वै.सा.सं.द.	वैदिक साहित्य संस्कृति और दर्शन
६१. वै.को.	वैदिक कोश
६२. वै.द.	वैशेषिक दर्शन
६३. वै.इ.(२)	वैदिक इण्डेक्स भाग-२
६४. वै.इ.(१)	वैदिक इण्डेक्स भाग-२
६५. श. ब्रा.	शतपथ ब्राह्मण
६६. शु. नी.	शुक्रनीति
६७. शु.य.	शुक्ल यजुर्वेद
६८. सि.कौ.	सिद्धान्त कौमुदी-४
६९. सं.इ. डि.	संस्कृत इंगलिस डिक्शनरी
७०. सं. श. कौ.	संस्कृत शब्दार्थ कौस्तुभ
७१. हि. स.	हिन्दू सभ्यता
७२. हि.रा.शा.	हिन्दू राज्य शास्त्र
७३. हि.ह्यू.मै.	हिस्ट्री आफ ह्यूमन मैरिज जिल्द-३
७४. हि.रा.त.	हिन्दू राज तन्त्र

अनुक्रमणिका

प्रथम अध्याय-

(समाज का प्रारम्भिक स्वरूप)

द्वितीय अध्याय-

(कौटिल्य कालीन समाज)

तृतीय अध्याय-

(प्राचीन भारत में राजनीति)

चतुर्थ अध्याय-

(कौटिल्य की दृष्टि में राजा और राज्य)

राजा का स्वरूप, राजा का साधु स्वभावी होना, अमात्यों की नियुक्ति, राज्य कर्मचारी और उनकी शक्तियाँ, कानून तथा न्याय, गुप्तचरों की नियुक्ति, राजा के राष्ट्र तथा परराष्ट्र सम्बन्धी नियम, साम, दाम, दण्ड और भेद का प्रयोग, शत्रु पर आक्रमण, सन्धि और सन्धि नियम, जनपद और उनकी स्थापना, दुर्ग निर्माण, कोशगृह और कोषाध्यक्ष, कृषि और व्यापार, राष्ट्र और राज्य, निष्कर्ष।

पंचम अध्याय-

(सामाजिक तथा राजनीतिक दृष्टि का समकेतिक स्वरूप)

प्राचीन समाज का कौटिल्य पर्यन्त विकास, कौटिल्य कालिक वर्णाश्रम व्यवस्था तथा परिवार, राजा का प्रारम्भिक तथा कौटिल्य कालिक सामर्थ्य, राजा का कौटिल्य कालिक सामर्थ्य, नीति एवं दण्ड, शत्रु और सन्धि, राजा और प्रजा का सामञ्जस्य, धर्म और समाज, समीक्षा और निष्कर्ष।

उद्धृत ग्रन्थ सूची-

प्रथम

अध्याय

प्रथम अध्याय

(समाज का प्रारम्भिक स्वरूप)

समाज की अवधारणा, वैदिक कालीन समाज
वर्णव्यवस्था, आश्रम व्यवस्था
परिवार व्यवस्था, उपनिषद् कालीन समाज
औपनिषिदिक वर्ण व्यवस्था, आश्रम व्यवस्था
औपनिषिदक परिवार।

प्रथम अध्याय

(समाज का प्रारम्भिक स्वरूप)
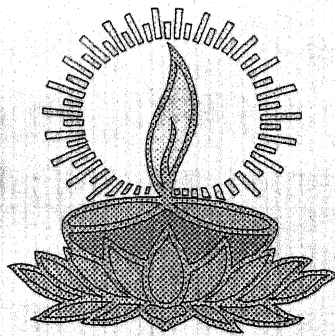
प्रथम अध्याय
(समाज का प्रारम्भिक स्वरूप)

समाज की अवधारणा :-

भारतीय परम्परा का इतिहास यद्यपि क्रमबद्ध रूप से नहीं लिखा गया है और जो लिखा भी गया है वह बाद के समय का है, तथापि वैदिक काल में जो भी वेदों के रूप में लिखा गया उससे हम समाज के आरम्भिक स्वरूप का परिचय पा सकते हैं। सृष्टि का प्रारम्भ कब और किस रूप में हुआ यद्यपि इद्‌मित्थम् रूप से इसका कथन करना तो सम्भव नहीं है किन्तु यहां की परम्परा के अनुसार परम सत्ता ईश्वर से ही सृष्टि के सम्पूर्ण स्वरूप की संरचना हुई। इस संरचना में पशु, पक्षी, कीट-पतंग, और मानव-दानव सभी सम्मिलित हैं। इस स्वरूप में सृजित संसार में मनुष्य इस रूप में पृथक् और श्रेष्ठ है क्योंकि इसे अन्य सभी जीवों की अपेक्षा बौद्धिक और वैचारिक सामर्थ्य अधिक रूप में मिला हुआ है। इसका स्वभाव भी ऐसा है जो इस रूप में दूसरों से भिन्न है। सम्भवतः इसकी इसी प्रवृत्ति ने आरम्भिक काल में कुछ व्यक्तियों के बीच समूह बद्ध रहना सिखाया होगा और तभी से यह समूह के रूप में रहने लगा होगा। धीरे-धीरे यही समूह गांव, नगर और राज्य के रूप में संगठित हो गये होंगे और तब इन्होंने ऐसे समूहों को नैतिक और व्यवहारिक दर्शन दिया होगा जो किसी भी समाज के लिये मूल आधार हो सकते हैं। प्रारम्भिक काल के लिये हम यही कल्पना कर सकते हैं कि तब धीरे-धीरे मनुष्य समूह बद्ध होकर रहने लगा होगा और बाद में नीति यवं नियमों से संचालित होकर एक सुसंगठित समाज का आकार ग्रहण करने लगा होगा। यद्यपि प्रारम्भ में समाज का बहुत स्पष्ट रूप नहीं बन सका होगा किन्तु निश्चय ही समाज ने अपना आकार ग्रहण कर लिया होगा और यही समाज बाद की समाज व्यवस्था के लिये आदर्श बना होगा।

वैदिक कालीन समाज :-

धर्म, दर्शन, नीति, आचार-व्यवहार आदि के साथ-साथ यदि हम आरम्भिक काल के सामाजिक स्वरूप को भी जानना चाहें तो सर्व प्रथम वेदों का आश्रय ग्रहण करना पड़ेगा। इन वेदों में भी प्रथम तीन वेद ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद ऐसे हैं जिनमें अन्य विषयों के साथ-साथ तत्कालीन सामाजिक संरचना के सूत्र भी प्राप्त होते हैं। यद्यपि वेदों में देवताओं की स्तुतियां और यज्ञ-विधानों का ही मुख्य रूप से वर्णन किया गया है, तथापि उसी समय से परिवार समाज की प्रारम्भिक इकाई के रूप में प्रतिष्ठित हो चुके थे और इन परिवारों में पितृ सत्तात्मक व्यवस्था का स्वरूप स्पष्ट रूप से दिखाई देने लगा था। पिता परिवार का मुखिया होता था और माता उस परिवार की सञ्चालिका। पिता को बाहर रह कर परिवार का संचालन करने के लिये श्रम करना होता था जबकि माता अन्दर रह कर घर का संचालन करती थीं। वह स्वरूप यद्यपि तब बहुत स्पष्टता के साथ वर्णित नहीं है किन्तु तब के समय में इसके संकेत अवश्य हैं। समाज को तब के समय में वर्ण व्यवस्था के अन्तर्गत निरूपित किया गया था। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के रूप में समाज का स्वरूप संकेतित है यद्यपि यह संकेत अधिक स्थानों पर न होकर बहुत ही कम मात्रा में है। जैसे कि ऋग्वेद के पुरुष सूक्त में उस परम सत्ता के मुख से ब्राह्मण, बाहुओं से क्षत्रिय, उरुओं से वैश्य और पदों से शूद्रों की उत्पत्ति का वर्णन किया गया है।[१] इस वर्णन से यह संकेत किया जा सकता है कि प्रमुख रूप से तब का समाज इन चार वर्णों के रूप में व्यवस्थित हो चुका था, यद्यपि ऋग्वेद में इसके अतिरिक्त वैश्य और शूद्र का प्रयोग नहीं है। अथर्ववेद में अवश्य कई बार वैश्य और शूद्र शब्द का प्रयोग किया गया है।[२]

---

१. ऋक् (दृष्टव्य पुरुष सूक्त)
२. ध.इ. (१) पृ० ११०

ऋग्वेद में जिस प्रकार से ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र की उत्पत्ति का कथन हुआ है उसे उसी रूप में आचार्य सायण ने व्याख्यात किया है और उन्होंने भी यह स्वीकार किया है कि ईश्वर के विविध अंगों से ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र उत्पन्न हुये।[१] एक अन्य संकेत इस प्रकार का है कि प्रजापति के मुख से ब्राह्मण, वक्षस्थल एवं बाहु से क्षत्रिय, देह के मध्य भाग से वैश्य एवं पदों से शूद्र की उत्पत्ति हुई है।[२]

जहाँ पर वैदिक संकेतों में इन चार वर्णों के उत्पत्ति के क्रम को कहा गया है वहीं पर दास शब्द का भी उल्लेख हुआ है। वैदिक साहित्य के अनेक उल्लेखों में ब्रह्मा शब्द ब्राह्मण के लिये, क्षत्र शब्द राजन् के लिये, विष शब्द वैश्य के लिये और दास के प्रयोग के साथ-साथ पञ्चजनाः शब्द का प्रयोग किया गया है।[३] इससे यह संकेत मिलता है कि तब के समाज में चारों वर्णों के अतिरिक्त दास की स्थिति भी स्वीकृत थी।

वैदिक काल के साथ ही साथ ऐसा प्रतीत होता है कि तब के समय में कुछ जातियों का प्रचलन भी हो चुका था और इन जातियों के प्रचलन में प्रमुख रूप से उन जातियों के द्वारा किये जाने वाले कार्यों की भूमिका भी थी। सम्भवतः तब चर्म का काम करने वाले चर्मकार, रथ का काम करने वाले रथकार, धनुष का निर्माण करने वाले धनुषकार और मृत्तिका का काम करने वाले कुलाल कहे जाते थे। इनके अतिरिक्त चाण्डाल, इषुकार और निषाद आदि भी थे जो अपना अपना कर्म करते थे और इसी के आधार पर समाज में अपनी भूमिका प्रस्तुत करते थे।[४]

---

१. धर्म० अ. पृ० ३५४

२. तै० सं. ७/१/१

३. ऋक् १०/१४१/५, तै.ब्रा. ३/६/१४, ऋक् ३/३४/२, ३/३७/६

४. ध.इ. (१), पृ० ११६ - ११७

वर्ण व्यवस्था :-

संस्कृत में वर्ण् अथवा वर्ण धातु से वर्ण शब्द की सिद्धि की गई है। इसमें एक स्थान पर ''वर्ण वर्णने'' लिखा गया है। इससे यह प्रतीत होता है कि वर्ण शब्द का सम्भवतः यह अर्थ है कि जिसके द्वारा समाज के विविध भागों का वर्णन किया जाये।[1] दूसरे स्थान पर जो वर्ण धातु पढ़ी गई है उसमें यह लिखा गया है -''वर्णक्रियाविस्तारगुण वचनेषु''। इस अर्थ में वर्ण धातु का अभिप्राय है- क्रिया, विस्तार और गुण।[2] इस रूप में यदि वर्ण शब्द का अर्थ लिया जाये तो वर्ण का अभिप्राय गुणों का प्रकटीकरण हो सकता है। इस रूप में हम यह भी कह सकते हैं कि वर्ण शब्द से किसी व्यक्ति या समूह के गुणों को प्रकट किया जा सकता है।

शब्द कोशों में वर्ण शब्द का जो अभिप्राय दिया गया है उसके अनुसार वर्ण का अर्थ रंगना, सौन्दर्य जैसे अर्थ होते हैं और इसी के साथ-साथ इससे चार वर्णों का अभिप्राय भी प्रकट होता है।[3]

वर्ण शब्द के इस अभिप्राय को यदि हम देखें तो ऋग्वेद में वर्ण का अर्थ रंग अथवा प्रकाश भी होता है। अर्थात् ऋग्वेद में जहाँ-जहाँ वर्ण शब्द का प्रयोग किया गया है वहाँ उसके अभिप्राय रंग अथवा प्रकाश के रूप में लिये जा सकते हैं। कहीं-कहीं पर दास शब्द के साथ वर्ण शब्द का प्रयोग है जो व्यक्ति के काले अथवा गोरे रंग को प्रकट करता है।[4]

---

१. सि.कौ., पृ० २६७
२. वही , पृ० २८६
३. सं.श. कौ. , पृ० १०२१
४. ऋक्० १/७३/७, ९/१०५/४, १०/१२४/७

एक विद्वान् का यह अभिमत है कि प्राचीन समय में आर्य और दास के रूप में दो ही प्रकार के वर्ग थे। इन्हीं के लिये वर्ण शब्द का प्रयोग होता था, क्योंकि आर्य वर्ण में गोरे थे और दास् वर्ण में काले थे। इसलिये वर्ण शब्द से रंग का ही अभिप्राय निकलता था। वे अपने कथन के समर्थन में यह कहते हैं कि प्रारम्भ में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों के लिये वर्ण का प्रयोग नहीं हुआ। बाद में ब्रह्म शब्द के प्रयोग में ब्राह्मण वर्ण का अर्थ लिया जाने लगा।[१]

जब हम वैदिक वर्ण व्यवस्था का स्वरूप देखना चाहते हैं तो हम यही देख सकते हैं कि इसका सबसे बड़ा संकेत और सबसे बड़ा प्रमाण ऋग्वेद के पुरुष सूक्त का वही मन्त्र है जो निरूपित करता है कि उस ईश्वर के मुख से ब्राह्मण हुये, बाहुओं से राजा हुये, उरुओं से वैश्य हुये और पदों से शूद्र हुये।[२]

जब ब्राह्मणों के लिये यह कहा गया कि वह ईश्वर के मुख से जन्म लेता है तब यह भाव भी निहित था। जिस प्रकार शरीर में मुख श्रेष्ठ होता है उसी प्रकार से सभी वर्णों में ब्राह्मण श्रेष्ठ होता है। ऋग्वेद में एक स्थान पर यह वर्णन आया है कि जो राजा ब्राह्मणों को दान देता है और उनका आदर करता है वह सदा सुख का भाजन होता है।[३] इसी तरह से एक सन्दर्भ में यह कहा गया है कि सभी देवता प्रत्यक्ष नहीं हैं किन्तु ब्राह्मण एक ऐसा प्रत्यक्ष देवता है जिसे हम पृथिवी पर प्रत्यक्ष रूप में देख सकते हैं।[४]

---

१. ध०इ०(१), पृ० ११०-१११

२. ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरुतदस्य यद् वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत्। ऋक्-१०/९०/१२

३. अप्रतीतो जयति सं धनानि प्रति जनान्युत या सजन्यो।
अवस्यवे यो वरिवः कृणोति ब्रह्मणे राजा तमवन्ति देवाः।। ऋग् ४/५०/९

४. तै. सं. १/७/३/१

शतपथ ब्राह्मण का एक उद्धरण इस प्रकार का है कि ब्राह्मणों में चार विशेषतायें होती हैं जिससे वे आदर के पात्र होते हैं। इन गुणों में वहाँ पर ब्राह्मण के लिए पवित्राचरण, यज्ञ तथा लोकपंक्ति की गणना की गई है। इन गुणों के माध्यम से यह कहा गया है कि यही वे चार गुण हैं जो उनकी विशेषतायें हैं और इन्हीं विशेषताओं के माध्यम से ब्राह्मण वर्णों में ज्येष्ठ हैं। इस रूप में ब्राह्मणों से जो शिक्षा पाता है वह ब्राह्मणों को चार प्रकार के अधिकार प्रदान करता है। ये चार अधिकार हैं- अर्चा, दान, अजेयता और अवध्यता।[1] इस रूप में ब्राह्मण अर्चा करने योग्य था, वह दान देने का पात्र था, किसी के द्वारा उस पर विजय नहीं पायी जा सकती थी इसलिये अजेय था और कोई भी उसका वध नहीं करता था इसलिये वह अवध्य था। यही सब उसके लिये श्रेष्ठता और ज्येष्ठता के आधार थे।[2]

जिस रूप में ब्राह्मण की श्रेष्ठता का आख्यान किया गया है उसी रूप में क्षत्रिय की विशिष्टता का आख्यान भी वैदिक वाङ्मय में मिलता है। वहाँ पर यह कहा गया है कि राजा अथवा राजन्य महान् होता है। जो राजा बनता है वह मुकुट धारण करके सभी का अधिपति बन जाता है किन्तु वह अधिपति बनने के साथ-साथ धर्म का रक्षक भी होता है।[3] इसी रूप में ब्राह्मण और क्षत्रिय के लिये यह संकेत है कि वे दोनों परस्पर सहयोगी रहें जिससे उन्हें यश मिले। इसलिये यह कहा गया है कि क्षत्रिय को भी काम करने से पूर्व ब्राह्मण के पास जाना चाहिये।[4]

---

१. तै० सं० १/७/३/१

२. प्रज्ञा वर्धमाना चतुरो धर्मान् ब्राह्मणमभिनिष्यादयति ब्राह्मण्ये प्रतिरूपचर्यया यशो लोकपंक्ति लोकः। पच्यमानश्चतुर्भिः ब्राह्मणं भुनक्त्यर्चया च दानेन....। श०ब्रा० ११/५/७/१

३. क्षत्रियोऽजानि विश्वस्य भूतस्याधिपति विशामन्ताजनि .....।
ब्राह्मणो गोप्ताजनि धर्मस्य गोप्ताजनि ।। ऐत . ३९/३

४. श० ब्रा० ४/१४/६

इस वर्ण व्यवस्था में वैश्यों के विषय में विस्तार से लिखा गया है। वेदों में यह कहा गया है कि जो यज्ञ करते हैं और इस निमित्त पशुओं का पालन करते हैं वे वैश्य होते हैं। वहाँ पर यह भी संकेत है कि जब देवगण असहाय होकर राक्षसों से पराजित हो गये तो वे वैश्य की दशा को प्राप्त हुये।[१] इस दशा में हम यह अनुमान कर सकते हैं कि वैश्यों का सम्बन्ध युद्ध क्षेत्र से कभी नहीं रहा। अर्थात् यह वर्णकृषि कार्य में संलग्न रहा और वणिक् वृत्ति से अपनी जीविका का संचालन करता रहा। इसीलिये ऋग्वेद में एक स्थान पर व्यापार करने वालों के लिये वणिक् शब्द का प्रयोग हुआ है।[२]

वैदिक कालीन जीवन में कृषि और व्यापार का कार्य संचालित होने लगा था। यद्यपि तब के समाज में हम यह देखते हैं कि व्यापार का स्वरूप इतना विकसित नहीं था जितना विकास कृषि कार्य का हुआ था। वैश्यों के पास कृषि कार्य का सम्पादन करने के लिये पशु सम्पत्ति होती थी और तब बैलों के द्वारा कृषि कार्य किया जाता था। उल्लेख यह भी है कि बैल न केवल हल चलाते थे अपितु वे शटक भी खींचते थे। अश्व रथ खींचने के साथ-साथ दौड़ में काम आते थे। श्वानों का भी पालन होता था और यही सब सम्पत्ति वैश्य की सम्पत्ति होती थी।[३]

तब के समय में जो कृषि कार्य किया जाता था उसके लिये उर्वरा भूमि तैयार होती थी। कृषि कार्य में कीट और पक्षी हानि पहुंचाते थे तथा अतिवृष्टि और अनावृष्टि से हानि होती थी। इसका उल्लेख ऋग्वेद में है।[४]

---

१. पशुकामः खलु वैश्यो यजते । तै० सं० २/५/१०/२

२. ऋक् १/१२२/११

३. वही ४/१५/६, ८/२२/२

४. वही , १०/६८/१

यद्यपि वेद कालीन समाज में एक दो सन्दर्भों का छोड़कर कम स्थान ऐसे हैं जहाँ चारों वर्णों का स्पष्ट उल्लेख किया गया है। अधिकतम रूप में ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य से इतर जो भी थे उन्हें शूद्र वर्ण के अन्तर्गत ही गिना जाता था। इस वर्ण में अनेक जातियाँ तब सम्मिलित थीं, जिनमें बढ़ई, लोहार, चमार और कुलाल आदि का उल्लेख है। इन जातियों को वंशानुक्रम से मान्यता प्राप्त थी और इनकी पहचान सम्भवतः इनके कर्मों से होती थी। उपरिलिखित जातियों के अतिरिक्त निषाद, मागध और सूत आदि का उल्लेख होने के साथ दास शब्द का प्रयोग भी किया गया है जिसे पंचम वर्ण के रूप में कुछ विद्वानों ने स्वीकार किया है।[1] इन सभी का कार्य त्रिवर्ण की सेवा करना और शिल्प आदि कार्यों को सम्पादन करना था।

इस रूप में वैदिक कालीन भारत की जो सामाजिक व्यवस्था थी उसमें प्रारम्भ में वर्णों की स्थापना तो हो चुकी थी किन्तु इन वर्णों का प्रचार और इनकी सुदृढ़ व्यवस्था पर्याप्त रूप से नहीं हो सकी थी। यही कारण है कि अति प्राचीन समय में तीन वर्णों का ही कथन किया गया और शूद्र वर्ण के सन्दर्भ में अधिक विस्तार से नहीं लिखा गया। इन उल्लेखों के साथ ही साथ यह भी ध्यान देने योग्य तथ्य है कि तब के समाज में ब्राह्मण की श्रेष्ठता स्वीकृत थी और उसकी श्रेष्ठता केवल उसके जन्म से न होकर उसके कार्यों से भी निर्धारित थी। ब्राह्मणों के साथ-साथ क्षत्रिय और वैश्य वर्ण भी पर्याप्त रूप से प्रतिष्ठित थे और उनकी प्रतिष्ठा भी सभी वर्णों के लिये जन्म के साथ-साथ कर्म की श्रेष्ठता के आधार पर था।

---

१. ऋक् ७/३१/२०, १०/७२/५, ६/५/३८
शु० यजु० १६/२७, ३०/५, ३०/६
हि० स० पृ० ६०

आश्रम-व्यवस्था :-

अ उपसर्ग पूर्वक श्रम धातु से घञ् प्रत्यय किये जाने पर आश्रम शब्द निर्मित होता है। शब्दार्थ कोष में इसका जो अर्थ दिया गया है उससे यह संकेत मिलता है कि यह शब्द जीवन की चार अवस्थाओं को संकेतित करता है। ये चार अवस्थायें हैं- ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यस्थ।[१] एक दूसरे सन्दर्भ में यह कहा गया है कि श्रेय की कामना करने वाले ज़हाँ पहुंचकर श्रम से मुक्त हो जाते हैं वह आश्रम है। एक दूसरा अर्थ यह भी है कि जहाँ अपने कर्तव्य के पालन के लिए व्यक्ति श्रम मुक्त हो जाता है अथवा पूर्ण श्रम करता है। वह आश्रम है।[२]

एक विद्वान् का यह अभिमत है कि आश्रम व्यवस्था के रूप में मनुष्य के जीवन को चार भागों में विभक्त किया गया है। जीवन के इन चार विभागों से वह व्यक्ति सहज रूप में ही धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की प्राप्ति कर लेता है।[३] इसका अभिप्राय यह है कि प्राचीन समय में जीवन में प्राप्ति का जो लक्ष्य रखा गया था और जिसमें यह कहा गया था कि मनुष्य इस पृथिवी पर किसी विशेष उद्देश्य को लेकर ही आता है उसकी पूर्ति इन्हीं आश्रमों के माध्यम से होती है। जीवन के लिये निर्धारित चार पुरुषार्थों के क्रम को यदि हम देखें तो इनमें धर्म प्रथम रूप से परिगणित है और मोक्ष अन्तिम रूप से गिना गया है। इसी तरह से आश्रम व्यवस्था में ब्रह्मचर्य आश्रम को पहले बताया गया है और संन्यास आश्रम को अन्तिम आश्रम के रूप में गिना गया है। इसका अभिप्राय यह हो सकता है कि जीवन में धर्म का आधार चाहिये और मुक्ति का लक्ष्य होना चाहिये।

---

१. सं. श० कौ० पृ० २०६

२. हि०वि० को०, (प्र. ख.) पृ. ४२७ पर उद्घृत

३. वै०सा०सं०द० पृ० १७१

वैदिक परम्परा में यदि आश्रमों की स्थिति का अनुमान करना हो तो यह कहा जा सकता है वहाँ पर येन-केन प्रकारेण इन आश्रमों की सूचना प्राप्त है। एक स्थान पर वहाँ यह कहा गया है कि आचार्य उपनयन संस्कार के बाद ब्रह्मचारी को अपना अन्तेःवासी बनाता है क्योंकि ब्रह्मचर्य ही एक ऐसा विशिष्ट स्थान है और सामर्थ्य है कि इसके द्वारा देवों ने मृत्यु पर विजय प्राप्त की।[१] इस संकेत से यह प्रतीत होता है कि किसी न किसी रूप में तब के समय में ब्रह्मचर्य आश्रम की स्थिति थी। इसी प्रकार से गृहस्थ आश्रम का संकेत भी वहां पर है जहाँ पर यह कहा गया है कि गृह के मूल में पत्नी होती है इसलिये पति तथा पत्नी को मिलकर रहना चाहिये।[२] एक दूसरा सन्दर्भ यह है जिसमें यह कहा गया हैकि इन्द्र स्त्री को सौभाग्यवती बनावे और स्त्री पुत्रवती बने।[३] स्त्री के अधिकार को और उसकी विशेषता को इस रूप में भी कहा गया है कि वह उत्तम वधू है जो अपने आचरण से सास श्वसुर ननद-ज्येष्ठ और अपने देवर आदि पर अपना आधिपत्य जमा लेती है।[४]

वानप्रस्थ आश्रम के विषय में भी वेदों में संकेत किया गया है। वहाँ पर यद्यपि इस शब्द का सीधे-सीधे प्रयोग नहीं किया गया तथापि बैखानस शब्द का प्रयोग वहाँ पर है। इस शब्द पर विचार करते हुये अनेक इतिहासविदों ने यह माना है कि यह शब्द वानप्रस्थ आश्रम को संकेतित करता है और वेद काल में सम्भवतः इसकी स्थिति थी।

---

१. ऋक् १०/१०६/५, अथर्व ११/५/१, अथर्व ११/५/१६

२. ऋक् १०/८५/२३

३. वही १०/८५/२५

४. सम्राजी श्वसुरे भव सम्राज्ञी श्वश्रवां भव ।
   ननान्दरिव सम्राज्ञी भव सम्राज्ञी देवेषु अधि।। ऋक् १०/८५/४६

वैदिक वाङ्मय में संन्यास आश्रम के लिये यद्यपि संन्यास शब्द का स्पष्ट प्रयोग नहीं है किन्तु इस आश्रम के लिये भी संकेतार्थ रूप में मुनि शब्द का प्रयोग किया गया है। ऋग्वेद में कहा गया है कि मुनि वे होते थे जो वायु का भक्षण करते थे, पीले वस्त्र पहनते थे और आकाश में उड़ने की शक्ति रखने के साथ-साथ सभी कुछ देख सकते थे।[1] एक दूसरे संदर्भ में यह संकेत किया गया है कि मुनि देवों के मित्र हैं और देववत रहते हैं।[2] ऐतरेय ब्राह्मण में एक सन्दर्भ इस प्रकार का आया है जहाँ पर मृगचर्म और तपस्या आदि की व्यर्थता का संकेत किया गया है जबकि ये मुनियों के चिन्ह हैं। वहाँ पर यह भी कहा गया है कि मंत्र से क्या लाभ, दाढ़ी रखने से क्या लाभ, तपस्या से क्या लाभ, पुत्र की इच्छा करो क्योंकि वह रमणीय है और इसकी प्रशंसा होती है।[3]

इन सभी सन्दर्भों के आधार पर यह कहना संगत हो सकता है कि वैदिक काल में यद्यपि सभी आश्रमों का संकेत स्पष्ट रूप से नहीं किया गया था, तथापि किसी न किसी रूप में तब चारों आश्रम की व्यवस्था प्रारम्भ हो चुकी थी। जिस उद्धरण में मल और स्मश्रु का संकेत आया है वहां पर एक विद्वान् ने मल से गृहस्थ आश्रम का संकेत माना है और श्मश्रु से संन्यास आश्रम का संकेत लिया है और यह कहा है कि इन संकेतों से यह मानना चाहिए कि तब चारों आश्रमों की स्थिति थी।[4]

---

१. ऋक् १०/१३६/३, १०/१३६/४

२. वही १०/१३६/४

३. किं नु मलं किम् अजिनम् किमूइष्टमरणीव किं तपः।
पुत्रं ब्राह्मण इच्छध्वं स वै लोके वदावदः ।। ऐ०ब्रा० ३३/११

४. ध०इ० (१) पृ० ४८२

परिवार व्यवस्था :-

परिवार व्यक्ति के जीवन की एक ऐसी इकाई है जो उसे सुख और शान्ति से जीने का आधार देती है। परिवार में रहकर व्यक्ति एकाकी जीवन का अनुभव नहीं करता, न ही उसे अशान्ति का अनुभव होता है। एक से दो होकर रहने की इच्छा अथवा अनेकों के बीच में रहने की इच्छा की पूर्ति होती है तभी वह सुख और शान्ति का अनुभव करता है। परिवार उसे इस प्रकार की पूर्णता देता है।

वैदिक काल में पारिवारिक प्रतिष्ठा के संकेत भी प्राप्त हैं क्योंकि वहाँ पर परिवार में माता-पिता, भाई-बहिन, पुत्र-पुत्री और वधू आदि की स्थिति स्वीकार की गई है। एक स्थान पर यह कहा गया है कि जो परिवार सुखमय है उसमें सहृदयता, मन में शुभ विचारों की प्रतिष्ठा, पारस्परिक प्रेम और आपसी सद्भाव इस प्रकार का हो जैसे गाय अपने बछड़े के प्रति प्रेम रखती है। एक दूसरा सन्दर्भ यह है जिसमें निर्देश है कि भाई-भाई के प्रति द्वेष न करे, बहिन का बहिन के प्रति द्वेष न हो, हम सभी एक मन वाले होकर रहें और परस्पर मधुर सम्भाषण करते हुये शान्ति से जीवन जियें। परिवार के सभी जन वृद्धों को मान देने वाले हों, उत्तम मन वाले हों, फल प्राप्ति तक कर्म करने वाले हों और निरन्तर आगे बढ़ने वाले हों। वहाँ एक देव के द्वारा यह कहा गया है कि परिवार के जन तुम सभी आगे बढ़ो, परस्पर शत्रुता न करो और एक दूसरे के साथ प्रेम पूर्वक बातचीत का व्यवहार करते रहो।

मैं तुम सबको मिलकर काम करने वाला और उत्तम विचारों वाला बनाता हूँ।[1] इसी तरह का एक अन्य उदाहरण इस प्रकार का है जिसमें यह कहा गया है कि सभी कुटुम्बीजन परस्पर प्रेम करें क्योकि कुटुम्ब ही प्रेम का स्थान है। साथ ही पति-पत्नी पुत्रादि भी एक दूसरे के साथ सुहृद भाव से जुड़ें।[2]

परिवार की प्रतिष्ठा के लिये पत्नी की अपरिहार्य स्थिति का विवरण वेदों में दिया गया है। वहाँ पर स्पष्ट कहा गया है कि देव पूजन के लिये पति और पत्नी का सहयोगी होना आवश्यक है। दम्पति सम्ब-न्ध से जब पुत्र की प्राप्ति होती है तो पिता पुत्र रूप में स्वयं ही उत्पन्न होता है और इसके लिये भी पत्नी की स्थिति चाहिये। पुरुष पुत्र रूप में उत्पन्न होकर अपनी अमरता को देखता है अर्थात् पति रूप में जब वह समाप्त हो जाता है तब भी वह पुत्र रूप में जीवित होता है। यही उसकी अमरता है और इस अमरता के लिये पत्नी का सहयोग चाहिये।[3]

एक दूसरा सन्दर्भ इस प्रकार का है जो यह बताता है कि पति और पत्नी में जो अपरिहार्य सम्बन्ध है वह अर्धाङ्ग का सम्बन्ध है। अर्थात् पत्नी पति की अर्धाङ्गिनी है। इसलिये पुरुष जबतक पत्नी सहित नहीं होता तब तक वह पूर्ण नहीं होता।[4] इसी प्रकार से वैदिक यज्ञों के सम्पादन के लिये भी पत्नी का होना आवश्यक बताया गया है और कहा गया है कि बिना पत्नी के वैदिक यज्ञों को सम्पादित नहीं किया जा सकता।[5]

---

१. अथर्व० ३/३०/१-५
२. वृहदारण्यक २/४/५
३. ऋक्० १०/४५/३४, ऐ०ब्रा० ७/३
४. श०ब्रा० ५/२/१/१०
५. तै० सं० ६/३/१०/५

उपनिषद् कालिक समाज :-

उपनिषदों में सृष्टि के प्रारम्भिक स्वरूप का वर्णन किया गया है। वहां पर यह कहा गया है कि वह परम पुरुष एकाकी रहकर रमण नहीं कर सका इसलिये उसने स्वयं को दो भागों में विभक्त कर लिया। अपने इन दोनों भागों में से एक भाग में वह पुरुष बन गया और एक भाग में स्त्री बनकर रमण करने लगा। इस स्थिति में जब उसने रमण किया तो अपनी आवश्यकतानुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र को उत्पन्न किया। उस समय का जीवन भौतिक रूप से और आध्यात्मिक रूप से सम्पन्न था और समाज में सभी प्रकार से सम्पन्नता दिखाई देती थी। वर्ण व्यवस्था का स्वरूप भी ऐसा था जो इस युग में बहुत कठोरता के साथ परिलक्षित नहीं होता था किन्तु किसी न किसी रूप में सामाजिक व्यवस्था लागू अवश्य हो चुकी थी। क्योंकि भौतिक सम्पन्नता के लिये बहुत अधिक प्रयत्नशील समाज इसलिये नहीं था क्योंकि उसे प्रारम्भ से ही आध्यात्मिक विचारों का आधार मिलता था। महर्षि याज्ञवल्क्य ने जिस रूप में अपनी पत्नियों के बीच सम्पति का वितरण किया था उस रूप में जब उनकी एक पत्नी ने अर्थ की अपेक्षा अध्यात्म ज्ञान को महत्त्व दिया था तभी यह अनुभव किया जा सकता है कि समाज में भौतिक महत्त्व नहीं था अपितु आध्यात्मिक महत्त्व भी अधिक था।[१]

उस समय समाज में इस आध्यात्मिक वृत्ति को प्रतिष्ठित करने वाले वे व्यक्ति थे जो स्वतन्त्र वृत्ति से विचरण करते थे और अपनी अपरिग्रही वृत्ति को प्रदर्शित करते थे। वे मुनि और यति के रूप में थे। इनका सम्बन्ध उस संस्कृति से था जिसे बाद में श्रवण संस्कृति के नाम से जाना गया। इसी संस्कृति के प्रभाव से बाद में यज्ञों और यज्ञ विधानों की व्याख्या भी आध्यात्मिक रूप से की जाने लगी थी और औपनिषदक समाज इसे स्वीकार करने लगा था।[२]

---

१. वृह० उप० २/४/१, ४/६/१

२. भा०सं०वि०, पृ० १७६-१८०

औपनिषदक समाज में वर्ण व्यवस्था में भी यत् किञ्चित परिवर्तन दिखाई देता है जिसमें बहुत अधिक कठोरता नहीं है। यहाँ तक कि चारों वर्णों की मान्यता होने के बाद भी वर्ण परिवर्तन के उदाहरण यत्र-तत्र दिखाई देते हैं। जैसे कि रैक्व आख्यान में शूद्र वर्ण के विरक्त भी उपदेश करने का अधिकार रखते हैं। रैक्व ने राजा जानश्रुति को उपदेश दिया था और उसके बदले में राजा ने रैक्व के लिये अपनी कन्या का दान किया था।[१] इसके अतिरिक्त उपनिषद् परम्परा में काणवंशीय वत्स सत्यकाम जाबाल आदि के संकेत यह संकेत करते हैं कि जिनका जन्म निम्न वर्णों में हुआ है यदि वे ज्ञान से श्रेष्ठ हैं तो वे समाज में आदर के पात्र होते थे।

औपनिषदिक वर्ण व्यवस्था :-

उपनिषद्काल में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों के रूप में समाज संगठित हो चुका था और इसके पर्याप्त संकेत वहाँ पर प्राप्त होते हैं। उस समय ब्राह्मणों के अनेक विभेदों का उल्लेख है जैसे कि पुरोहित, उपदेशक, राजपुरोहित तथा आचार्य।[२] उस समय ब्राह्मण के लिये आदर इस निमित्त से था क्योंकि वह ब्रह्म ज्ञानी होता था और ब्रह्म ज्ञानी होने के कारण ही वह समाज में आदर का पात्र था।[३] ब्राह्मण की बुद्धि कुशलता से समाज प्रभावित रहता था और समाज में जब भी किसी प्रकार की समस्या उत्पन्न होती थी तो ब्राह्मणों का मत मूल्यवान माना जाता था। अर्थात् उस समय ब्राह्मण मत देते थे उसका मूल्य समाज में होता था और समाज उस मत पर चलने का प्रयत्न करता था।[४] इससे यह अनुमान कर लेना सहज है कि ब्राह्मण ज्ञानी और समाज के लिये पथ प्रदर्शक के रूप में प्रतिष्ठित थे।

---

१. छा०उप० ४/२/३

२. प्रा०भा०, पृ० ७१

३. वृ० उ० १/४/११

४. तै०उ० १/११/४

ब्राह्मणों के सन्दर्भ में और जो विस्तार से विवेचना उपनिषदों में प्राप्त है उनमें यह कहा गया है कि ब्राह्मणों की निन्दा नहीं करनी चाहिये क्योंकि वे अनिन्द्य होते हैं अर्थात् वे निन्दा करने योग्य नहीं हैं।[1] दूसरा एक सन्दर्भ इस प्रकार का प्राप्त है कि ब्राह्मण की हत्या भी नहीं करनी चाहिये क्योंकि जो क्षत्रिय ब्राह्मण की हत्या करता है वह अपनी ही योनि को नष्ट कर रहा होता है और वह पाप का भागीदार बनता है।[2] अर्थात् जो भी कोई ब्राह्मण की हत्या करता है उसे पाप लगता है। ब्राह्मणों के विषय में भी यह सन्दर्भ प्राप्त है कि कुछ ब्राह्मण ऐसे थे जो सुवर्ण, गौ, अश्व, दास और दासियों से युक्त थे।[3] यद्यपि ब्राह्मण प्रमुख रूप से स्वाध्याय करते थे, यज्ञ करते थे, दान देते थे और लेते थे तथा तपस्या कार्य में सदा संलग्न रहते थे। वे जब यह कार्य करते थे तभी उनकी संज्ञा मुनि की संज्ञा होती थी और इन्हीं कार्यों से वे अध्यात्म पथ की ओर प्रवृत्त होते थे।

ब्राह्मण के लिये समाज में शक्ति सम्पन्नता का कथन है। यद्यपि यह शक्ति उसके पास उसके तप और ज्ञान से ही होती थी और तभी वह ब्राह्मण कहलाने का अधिकारी होता था। किसी का भी यह सामर्थ्य नहीं था कि ब्राह्मण के प्रति कोई कुदृष्टि रखे अथवा उसकी पत्नी के प्रति कुदृष्टि का भाव करे क्योंकि ऐसा करना अनर्थकारी होता था।[4]

---

१. ब्राह्मणान्न निन्देतद्व्रतम्। छा० उप० २/१०/२
२. य उ एन हिनस्ति स्वा स योनिमृच्छति स पापीयान्भवति।
   वृ.उप. १/४/११
३. स हो वाच विज्ञायते हयस्ति हिरण्यस्यापात्तं गौ अश्वानां दासीनां
   प्रवाराणाम् परिदानस्य मा......। वृह. उप. ६/२/७
४. वही, ६/४/१२

क्षत्रियों के लिये एक उपनिषद् में यह संकेत है कि जब विभूति युक्त ब्रह्म, ब्रह्म कर्म करने में समर्थ नहीं हुआ तब उसने क्षत्र अर्थात् क्षत्रिय की रचना की। इसलिये उस युग में क्षत्रियों अर्थात् राजन्यों का बहुत अधिक महत्व था। वे ही एक प्रकार से समाज का संरक्षण करते थे और समाज में शक्ति सम्पन्न थे। सन्दर्भ यहाँ तक मिलता है कि राजसूय यज्ञ में वे ब्राह्मणों से श्रेष्ठ स्थान पर बैठते थे।[१] एक स्थान पर यह संकेत है, जिसमें कहा गया है कि क्षत्रियों ने एक बार यह उद्घोष किया कि वे ही ब्रह्म विद्या के अधिकारी हैं इसलिये आचार्य प्रायः उनके यहाँ ही ब्रह्म विद्या का ज्ञान प्राप्त करने जाते थे। ऐसे क्षत्रियों में अजातशत्रु, जनक और जानश्रुति आदि ब्रह्मवादी क्षत्रियों का उल्लेख है जिनके यहां जाकर ब्राह्मणों ने ब्रह्म विद्या का ज्ञान प्राप्त किया।[२] क्षत्रिय भौतिक दृष्टि से तब सम्पन्न थे और इस लिये उनके पास बहुत अधिक मात्रा में गो धन, स्वर्ण, रथ आदि होते थे और वे अनेक ग्रामों के स्वामी होते थे। वे जब यज्ञों का आयोजन करते थे तो यज्ञ कर्ता ब्राह्मणों को पर्याप्त मात्रा में दक्षिणा आदि देकर सम्मानित करते थे।[३] इससे उनकी सम्पन्नता प्रकट होती थी और उनका समाज पर प्रभुत्व तथा स्वामित्व ज्ञात होता था।

वैश्यों का प्रभाव भी व्यवस्था में देखा जा सकता है क्योंकि इसकी उत्पत्ति के सम्बन्ध में यह कहा गया है कि वह ब्रह्म जब विभूति युक्त कर्म करने में सक्षम नहीं हुआ तो उसने विश् की सृष्टि की और वैश्यों को व्यापार कर्म के लिये प्रेरित किया। अर्थात् वैश्य सृष्टि परम्परा में व्यापार करने में प्रवृत्त हुये।

---

१. वृ० उ० १/४/११

२. छा०उ० ५/३/७, वृ० उ० ६/२/८

३. वृह० उप० ३/१/१, ४/१/२, छा० उप० ४/२/४

व्यापार कार्य उनके लिये धनोपार्जन का एक आधार बना।[1] वैश्यों को वसु, रुद्र, आदित्य और विश्वेदेवों से सम्बन्धित माना गया है।[2] यह वर्ग भी तब समाज में पर्याप्त मात्रा में आदर का पात्र था यद्यपि इसका यह आदर केवल इसके कार्य से नहीं था अपितु इसे यह आदर आचरण से मिला था।[3]

जिस तरह ब्रह्म के सामर्थ्य से अन्य वर्णों की उत्पत्ति हुई है उसी तरह से वर्ण व्यवस्था में शूद्रों की उत्पत्ति का कथन भी किया गया है। एक उपनिषद् में यह वर्णन है कि वह ब्रह्म किसी सेवक के अभाव में सेवा कार्य करने में अक्षम हुआ तब उसने अपने वैभव से शूद्रों की उत्पत्ति की। शूद्रों से सम्बद्ध ऊषा देव इसीलिये पोषण करते हैं क्योंकि वे पोषण के देवता हैं।[4]

इस अर्थ में समाज में शूद्रों का कार्य सेवा का ही रहा है और अपने इसी कार्य से वे अपने परिवार का पोषण करते थे और समाज के संचालन में सहयोगी होते थे। शूद्रों के लिए अनेक प्रकार के उपनाम प्रचलित हुए जो सम्भवतः अनेक विशेष-विशेष कर्मों से सम्बद्ध थे। इनमें रथकार, सेनानी और दास आदि की गणना की गई हैं।[5]

इस रूप में यह भी संकेत किया जा चुका है कि शूद्र चतुर्थ वर्ण होता हुआ भी अपने ब्रह्म ज्ञान के बल पर ब्रह्म विद्या के उपदेश करने का अधिकारी था। रैक्व के उपाख्यान से यही संकेत मिलता है।

---

१. स नैव व्यभवत् स विशमसृजत यान्येतानि देवजातानि गणश आख्यान्ते वसवो रुद्र आदित्या विश्वेदेवा मरुत इति। ई० द्वा० उ०, पृ. २८१
२. वृह० उप० शांकर भाष्य १/४/१३
३. छा० उप० ५/१०/७
४. वृ० उ० १/४/१३
५. प्र० भा०, पृ० ७१

आश्रम व्यवस्था:-

उपनिषदों में वर्ण व्यवस्था का संकेत तो अवश्य है किन्तु वहाँपर भी वर्णों की स्पष्ट विवेचना दिखाई नहीं देती है।[१] छान्दोग्योपनिषद् में गृहस्थ, वानप्रस्थ और ब्रहमचर्य की चर्चा की गई है और इस चर्चा में चतुर्थ आश्रम की विवेचन नहीं किया गया। एक उपनिषद् में अवश्य रूप से चतुर्थ आश्रम की चर्चा हुई है।[२] इससे ऐसा लगता है कि पूर्व में तीन आश्रमों की व्यवस्था ही प्रमुख रूप से चलती रही होगी और चतुर्थ आश्रम का व्यवहार बाद में हुआ होगा। कुछ संकेत इस प्रकार के विद्वानों ने किये हैं जिनमें यह कहा गया है कि सम्भव है छान्दोग्योपनिषद् के समय तक वानप्रस्थ आश्रम और संन्यास आश्रम का भेद स्पष्ट न हो सका हो। अथवा यह भी सम्भव है कि वानप्रस्थ और संन्यासाश्रम की वृत्ति लगभग एक जैसी है इसलिए इनमें भेद न किया जा सका हो और इसलिये संन्यासाश्रम की व्यवस्था पृथक् से न की जा सकी हो।[३]

उपनिषद् काल में वेदों के सांगोपांग अध्ययन के लिए ब्रह्मचारी का आचार्य के पास जाना आवश्यक होता था। उस समय आचार्य ब्रह्मचर्य वास हेतु शिष्य को आदेश प्रदान करते थे।[४] ब्रह्मचारी के लिये उपनिषदों में कुछ कर्तव्यों का कथन भी किया गया है, जिनमें यह कहा गया है कि ब्रह्मचारी मुख्य रूप से अध्ययन कार्य सम्पादित करें क्योंकि यही उसके लिये अनिवार्य है।[५] इसके अतिरिक्त ब्रह्मचारी को इस प्रकार का जीवन व्यतीत करना चाहिये जिससे वह अपनी असद् वृत्तियों को दूर कर सके। एक विद्वान् यह लिखते हैं कि उस समय यह उसकी क्षमता पर निर्भर था कि वह ब्रह्मचर्य आश्रम में कितना समय व्यतीत करता है।[६]

---

१. छा०उ० २/२३/१

२. मुण्डक उप० ३/२/६

३. उ०स०सं० पृ० ५७

४. प्र० उ० १/१

५. तै० उ०,

६. उ० स० सं० पृ० ५७-५८

गृहस्थ धर्म के लिये उपनिषदों में यथा समय संकेत किये गये हैं। जो परम्परा गृहस्थों के लिये वेदों में थी और जिसमें यह कहा गया था कि गृहस्थ को विवाह विधि से पत्नी को प्राप्त करना चाहिये और पालन-पोषण के लिये अपनी सन्तान को पिता को अपना धन देना चाहिये।[१] इसी प्रकार का संकेत गृहस्थ के लिये उपनिषदें भी करतीं हैं। उपनिषदों में कहा गया है कि गृहस्थ को चाहिये कि वह अपनी सन्तान परम्परा का उच्छेद न होने दें। अर्थात् जिस प्रकार उसे अपने पूर्वजों से अविछिन्न रूप से सन्तान परम्परा मिली है उसी तरह से उसे आगे की परम्परा का संचालन करना चाहिए।[२]

उपनिषदें यह संकेत करतीं हैं कि गृहस्थ आश्रम में रहता हुआ व्यक्ति भी निरन्तर स्वाध्याय में रत रहे और कभी भी स्वाध्याय कर्म से विरत न हो।[३] इसी तरह से गृहस्थ आश्रम वासियों के लिये समाज कार्यों में प्रवृत्त होने का निर्देश भी है। इस निर्देश में यह कहा गया है कि गृहस्थ श्रद्धापूर्वक दान देकर सामाजिक हितों की रक्षा करे और गृहस्थ के लिये यह भी आवश्यक है कि वह दम, दया और दान के अनुष्ठान में नित्य प्रवृत्त रहें।[४]

उपनिषद् परम्परा के समय अरण्यवास का महत्व सर्वोपरि था। जब तक व्यक्ति गृहस्थ आश्रम में रहकर गृहस्थ धर्म का पालन करता था तब तक वह ज्ञान की परम्परा में रहता तो था किन्तु परम ज्ञान की प्राप्ति उसे नहीं होती थी। इसलिये व्यक्ति को तब यह कहा जाता था कि वह गृहस्थ आश्रम का परित्याग करके वानप्रस्थ आश्रम में जाये और वहां पर रहकर सांसारिक बन्धनों से मुक्त होकर प्रयत्न करता हुआ तपस्या करे और विरक्त होकर जीवन जिये। इस अवस्था में रहता हुआ वह भिक्षाचरण के द्वारा अपने जीवन का निर्वाह करे और तप का आचरण करे।[५]

---

१. ऋक् १०/८५/३६
२. प्र० उ० १/१, तै० उ० १/११/१
३. तै० उ० १/१/१/६
४. वृह. उप. ५/२/३
५. मुण्डक उप० १/२/११, छा० उप० २/२३/१

एक विद्वान् यह मत व्यक्त करते हैं कि तब सम्भवतः वानप्रस्थ आश्रम और संन्यास आश्रम में कोई बहुत बड़ा भेद नहीं था। वे अपने इस कथन के समर्थन में याज्ञवल्क्य द्वारा ली गई प्रबिृज्या का उदाहारण देते हैं जिसमें उन्होंने अपनी पत्नियों को सम्पूर्ण सम्पत्ति देदी थी और स्वयं सीधे संन्यास आश्रम में प्रविष्ट हुये थे।[१]

संन्यास आश्रम की व्यवस्था में जो उल्लेख मिलते हैं वे मुण्डक उपनिषद् में प्राप्त हैं। संन्यास शब्द का प्रयोग इसी उपनिषद् में हुआ है।[२] संन्यास आश्रम के लिये जो विधान निर्धारित हैं उनमें यह कहा गया है कि व्यक्ति इस आश्रम में पहुँचकर पुत्र की कामना से मुक्त हो जाये। वित्त की कामना से मुक्त हो जाये और लोक की कामना से मुक्त हो जाये।वह वन में विचरण करता हुआ भिक्षा वृत्ति के द्वारा अपने जीवन का निर्वाह करे।[३]

इस रूप में उपनिषद् कालीन व्यवस्था में जिस वर्ण व्यवस्था का संकेत किया गया है और जो आश्रम व्यवस्था प्रतिपादित की गई है उसके अनुसार तब का यही दृष्टिकोण प्रतीत होता है जिससे समाज का संचालन व्यवस्थित रूप से हो सके। तब वर्ण व्यवस्था ऐसी व्यवस्था थी जो समाज को संगठित रूप से संचालित करने में सहयोगी थी और जिस व्यवस्था से बंधकर सभी लोग अपना-अपना कार्य यथोचित रूप से करते थे। क्योंकि तब वर्ण व्यवस्था के साथ तद्-तद् वर्णों के लिये कर्तव्यों का आख्यान भी किया गया था। इसी प्रकार से आश्रम व्यवस्था का संचालन भी तब मनुष्य के जीवन को दृष्टि में रखकर किया गया था। प्रत्येक आश्रमवासी के लिये उसका निर्धारित कर्तव्य था, जिसका पालन करता हुआ वह न केवल अपने धर्म का पालन करता था अपितु अपने जीवन को भी व्यवस्थित ढ़ग से संचालित करता था। यही तब की वर्णाश्रम व्यवस्था की स्थिति थी।

---

१. वृह० उप० २/४/१

२. मुण्ड० उप० ३/२/६

३. वृह० उप० ३/५/१

औपनिषदिक परिवार :-

उपनिषद् कालिक समाज में परिवार की प्रतिष्ठा भी देखने को मिलती है। उस समय परिवार की जो कल्पना की गई है उसमें मुख्य घटक के रूप में पति-पत्नी को माना गया है। एक उपनिषद् में इस प्रकार का संकेत आया है जिसमें यह कहा गया है कि पहले पुरुष एकाकी था और स्वयं रमण करने में अक्षम था। इसलिये उसने दूसरे की इच्छा की। इस इच्छा के वशीभूत होकर उसने अपनी देह को विभक्त किया और उसी तरह से बन गया जैसे परिवार में पति और पत्नी होते हैं।[१]

परिवार का गठन तब निरुद्देश्य न होकर उद्देश्य पूर्ण था। इसका प्रथम उद्देश्य तो यह कहा गया है कि सभी के हित में यह है कि सन्तति की परम्परा अविछिन्न रूप से चलती रहे। इसीलिये यह उपदेश किया गया है कि सभी सन्तान की परम्परा को अविछिन्न रूप से बनाये रहें।[२] इसके अतिरिक्त समालोचकों ने यह मत व्यक्त किया है कि परिवार को रखने के अन्य उद्देश्यों में प्रथम उद्देश्य तो यह था कि सन्तान की उत्पत्ति हो जबकि दूसरा उद्देश्य यह था कि पति-पत्नी मिलकर धार्मिक विधियों का सम्पादन कर सकें। इसके अतिरिक्त एक उद्देश्य यह भी था कि यह एक आवश्यक आवश्यकता है।[३] उपनिषद् इस सम्बन्ध में स्वयं ही यह संकेत करते हैं कि रति का आनन्द ब्रह्म सदृश्य के रूप है और पारिवारिक गठन के लिये इसका महत्व है, क्योंकि इसकी यथोचित व्यवस्था से परिवार सुगठित होकर चलता था।

---

१. वृह० उप० १/४/१-३
२. तै० उप० १/११/१, कौ० उप० २/११
३. उ० स० सं० पृ० ६०

परिवार के सदस्यों के रूप में पिता का स्थान महत्वपूर्ण होता था। वह केवल अपने द्वारा अर्जित धन से पुत्र का भरण-पोषण ही नहीं करता था अपितु अध्ययन के लिये बालक के आचार्य के समीप जाने के पहले उसका वही प्रथम शिक्षक होता था। इस सम्बन्ध में उपनिषदों में यह संकेत किया गया है, जिसमें यह बताया गया है कि बालक जब शिक्षा प्राप्ति के लिये आचार्य आश्रम में जाते थे तो आचार्य यह जिज्ञासा व्यक्त करते थे कि पुत्र पिता द्वारा शिक्षित है अथवा नहीं।[१] पिता का स्थान परिवार में तो प्रमुख रूप से स्थापित ही था उपनिषदें उसे देव रूप में भी स्थापित करतीं हैं और इसलिये 'पितृ देवो भव' की शिक्षा उस समय दी जाती थी और यह कहा जाता था कि देव दृष्टि रखो और सभी प्रकार से पिता को सन्तुष्ट करो। इसी दृष्टि से नचिकेता ने यम से जो वरदान मांगे थे, उनमें पहला वरदान यही था कि उसके पिता उससे संतुष्ट रहें।[२]

जहाँ पिता के महत्व को इस प्रकार से अंकित किया गया है वहीं पिता के कर्तव्यों का निर्देश भी है। इन कर्तव्यों में यह निर्धारित था कि वह ऐसे श्रेष्ठ कर्म करे जो पुत्र के लिये परिपालनीय हों और समय आने पर अपने पुत्र को सभी कुछ सौंप दे तथा अपनी मुक्ति का रास्ता ग्रहण करें। इसमें यह अवश्य था कि पिता की यदि इच्छा होती थी तो वह अपनी अन्तिम अवस्था में पुत्र के साथ रह सकता था अथवा अपनी इच्छानुसार वह परिव्राजक होकर वन में जा सकता था। यह उसके ही विवेक और इच्छा से होता था। उसके इस प्रकार के कार्य जिसमें वह अपना सम्पूर्ण दाय पुत्र को सौंप देता था उसके वानप्रस्थ आश्रम का मार्ग प्रशस्त करता था।[३]

---

१. छा० उप० ५/३/१, वृह० उप० ६/२/१

२. कठ० उप० १/१/१० , तै० उप० १/११/२

३. कौ० उप० २/१५

पत्नी पद प्राप्त भार्या मातृ रूप में प्रतिष्ठित होकर देव तुल्य पूजित होती थी। उपनिषदें यह कहती हैं कि जिस प्रकार से पिता देवतुल्य हैं उसी तरह से परिवार में माता भी देव तुल्य है।[१] उपनिषदों में यह संकेत किया गया है कि सन्तति प्राप्ति के लिये वह पति के साथ मिलकर अनुष्ठान आदि के कार्यों में प्रवृत्त हो और भार्या होकर वह परिवार के उत्तरदात्यिवों का निर्वाह करे। परिवार की धुरी होती हुई माता दस मास की अवस्था तक अथवा नौ मास तक सन्तान को अपने गर्भ में धारण करती थी और अपने पुत्रों के लालन-पालन का दायित्व उठाती थी, इसके बाद वह सन्तान का लालन-पालन करती थी।[२]

परिवार के लिये, विशेषतः पति-पत्नी सम्बन्ध के लिये विवाह वृत्ति प्राचीन परम्परा में निर्धारित थी किन्तु वहाँ पर बहुपत्नीत्व प्रथा के संकेत स्पष्ट रूप से देखे जा सकते हैं। इस प्रथा के संकेत के रूप में याज्ञवल्क्य की दो पत्नियों का नाम विशेष रूप से उल्लिखित किया जा सकता है जिन्हें महर्षि याज्ञवल्क्य अपना दाय भाग देकर प्रव्रजित हुये थे।[३] इसी तरह से एक दूसरा सन्दर्भ ऐसा है जहां पर वामदेव्य साम की उपासना के प्रकरण में यह कहा गया है कि जिस उपासक के अनेक पत्नियाँ हों वह उनमें से किसी का भी परित्याग न करे।[४] उपनिषदों में पत्नी के लिये भार्या शब्द का व्यवहार होता था जिसका अभिप्राय यह लिया जा सकता है कि तब परिवार का भरण-पोषण करने के कारण पत्नी भार्या होती थी।

इस रूप में यह अवश्य इंगित किया जा सकता है कि परिवार में अनेक पत्नियों की परम्परा एक सामान्य परम्परा नहीं थी। ऐसा केवल कुछ लोगों तक ही सीमित था। सामान्य रूप से एक पत्नी के साथ परिवार संचालन की परम्परा थी।

---

१. तै० उप० १/११/२

२. स उल्वावृतो गर्भोदश वा नव वा मासानन्तः शयित्वा यावद्वाथ जायते।
छा० उप० ५/९/१

३. वृह० उप० ४/५/१/२

४. छा० उप० २/१३/२

पुत्र की स्थिति परिवार में महत्वपूर्ण रूप से उपनिषद् काल में स्वीकार की गई है। एक उपनिषद् में यह कहा गया है कि मनुष्य लोक में विजय पुत्र के द्वारा ही प्राप्त होती है।[१] पुत्र शब्द की व्याख्या ही इस प्रकार से की गई है जिसमें कहा गया है कि पुत्र वह है जो अपने पिता को पुम् नाम नरक से त्राण दिलाता है। क्योंकि पुत्र से बढ़कर और कोई नहीं है।[२] पुत्र के लिये पिता निरन्तर चिन्तनशील रहता था और यह चाहता था कि कभी भी किसी प्रकार का दुःख पुत्र को प्राप्त न हो। पूर्व में नचिकेता के दिये गये आख्यान के संकेत से यह कहना संगत होता है कि नचिकेता ने अपने पिता को महत्व देने की दृष्टि से अथवा उन्हें सन्तुष्ट करने की दृष्टि से यम से पितृ सन्तोष का वरदान माँगा था। इससे यह संकेत लिया जा सकता है कि जहाँ पिता अपने पुत्र के लिये चिन्तित होता था वहीं पर पुत्र भी अपने पिता की मर्यादा के लिये निरन्तर प्रयत्नशील रहता था।

इस सबके साथ ही साथ हम तत्कालीन समाज में यह देखते हैं कि परिवार में व्यवस्थित परम्परा थी और उस परम्परा का निर्वाह करने के लिये मुख्य रूप से माता-पिता ही उत्तरदायी होते थे। वे अपने श्रम के अर्जन से जहाँ एक ओर अपनी सन्तान का पालन-पोषण करते थे वहीं दूसरी ओर उन परम्पराओं का निर्वाह भी करते थे जिनसे सन्तान परम्परा पर सद् संस्कारों का प्रवाह होता था। इसीलिये परिवार में ज्येष्ठ पूजन अतिथि पूजन और देव पूजन को भी महत्व दिया जाता था और इसी से परिवार संस्कारित होते थे।

---

१. सो यं मनुष्यलोकः पुत्रणैव जयो। वृह. उप. १/५/१६
२. उपनिषद् अङ्क , पृ० ५१६ पर टिप्पणी

द्वितीय

अध्याय

द्वितीय अध्याय

(कौटिल्य कालीन समाज)

आचार्य कौटिल्य और अर्थशास्त्र, ग्रन्थ के रूप में
कौटिलीय अर्थशास्त्र, रचियता एवं समय
कौटिल्यकालीन समाज, वर्णव्यवस्था, आश्रम
व्यवस्था, पारिवारिक स्वरूप, स्त्री और उसके
अधिकार, दाय का स्वरूप और उत्तराधिकार
स्त्री तथा पुरुष के पुनर्विवाह का अधिकार
शिक्षा तथा समाज, व्यापार का स्वरूप, व्यापार
और समाज, समीक्षा निष्कर्ष।

द्वितीय अध्याय

(कौटिल्य कालीन समाज)
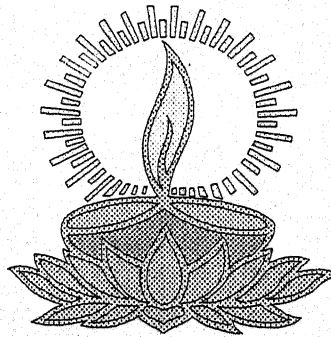
द्वितीय अध्याय
(कौटिल्य कालीन समाज)

आचार्य कौटिल्य और अर्थशास्त्र :-

प्राचीन परम्परा में पुरुषार्थों की परिकल्पना में जो क्रम दिया गया है उसमें धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के रूप में चार पुरुषार्थ गिनाये गये हैं। इनमें से पहला पुरुषार्थ धर्म है और अन्तिम पुरुषार्थ मोक्ष है। इन दोनों के बीच में अर्थ और काम को प्रतिष्ठा मिली है। इस स्थिति में हम यह कह सकते हैं कि धर्म के लिये अर्थ का आधार आवश्यक है और अर्थ ही ऐसा है जो काम की पूर्ति करता है। यदि धर्म को अर्थ का आध ाार न मिले तो वह पुष्ट रूप से संचालित नहीं हो सकता। इसी तरह से काम को भी अर्थ की अपेक्षा होती है। जब कोई भी व्यक्ति अपनी कामनाओं की पूर्ति करना चाहता है तो उसे अर्थ का आधार लेना पड़ता है क्योंकि अर्थ के आधार के बिना वह किसी भी रूप में अपनी कामनाओं की पूर्ति में सक्षम नहीं हो सकता।

आचार्य कौटिल्य ने मोक्ष का आख्यान नहीं किया। वे पुरुषार्थों में धर्म, अर्थ और काम का ही प्रयोग करते हैं। वे यह संकेत भी देते हैं कि इन तीनों के सन्तुलित प्रयोग से ही मनुष्य का कल्याण सम्भव है।[१] इसका यह अभिप्राय समझा जा सकता है कि कौटिल्य की दृष्टि में तीन पुरुषार्थ ही मनुष्य के जीवन के लिये उपयोगी हैं क्योंकि यही तीन व्यवहार परक हैं और इन्हीं तीनों का उपयोग मनुष्य के जीवन में होता है। धर्म उचित रीति से धारण किये जाने पर व्यक्ति के जीवन में शुचिता प्रदान करता है जबकि अर्थ व्यक्ति को सभी प्रकार से सम्पन्न बनाता है। काम पुरुषार्थ इसलिये महत्वपूर्ण है क्योंकि इससे व्यक्ति की सहज स्वाभाविक भोग की प्रवृत्ति पूर्ण होती है। हमारी परम्परा में मोक्ष दृष्टि का महत्व तो है किन्तु कौटिल्य व्यवहारिक जीवन को महत्वपूर्ण मानते हैं इसलिये धर्म, अर्थ और काम को वे त्रिवर्ग के रूप में स्वीकार करके इन्हें महत्व देते हैं और इन्हें पुरुषार्थ के रूप में स्वीकार करते हैं।

---

१. कौ० अ०, पृ० २४

कौटिल्य ने जब पुरुषार्थों की चर्चा की है तो उन्होंने धर्म, अर्थ और काम को महत्वपूर्ण तो माना है किन्तु अर्थ को इस दृष्टि से अधिक महत्व दिया है कि वह पहले है और इसलिए धर्म के भी पहले स्थान देते हैं। उनका यह मानना है कि धर्म, अर्थ, काम में अर्थ पहले है और धर्म बाद में, इसका कारण यह है कि उनकी दृष्टि से धर्म और काम के मूल में अर्थ है।[१] आचार्य कौटिल्य एक अन्य स्थान पर अपना यह अभिमत देते हैं कि सुख का मूल यद्यपि धर्म है तथापि धर्म का मूल अर्थ है।[२] इसका अभिप्राय सम्भवतः यह है कि अर्थ के बिना सुख भी सम्भव नहीं होता और धर्म तो अर्थ के बिना किया ही नहीं जा सकता। आचार्य कौटिल्य ने अपनी इस दृष्टि को स्पष्ट करते हुये इस पर अनेक प्रकार से विवेचन किया है। वे धर्म को महत्व देते हुये भी अपना यह मन्तव्य प्रकट करते हैं कि अर्थ की महत्ता इसलिये है क्योंकि अर्थ की प्राप्ति व्यवहार मूलक है। अर्थात् अर्थ की प्राप्ति से ही व्यवहार संचालित होता है। वे लिखते हैं कि धर्म के साथ-साथ सभी कार्य अर्थ से साधित होते हैं इसलिये सभी कार्यों को भी अर्थ मूलक ही जानना चाहिये।[३]

आचार्य कौटिल्य ने अर्थ के महत्व को इतना अधिक स्वीकार किया है कि इसके विवेचन में कहा है कि अर्थ का ग्रहण अपने जीवन में उसी प्रकार से करना चाहिये जिस प्रकार से कोई मछली पकड़ने वाला व्यक्ति बड़ी ही सावधानी से और एकाग्र निष्ठा से मछली पकड़ता है। अर्थ प्राप्ति के लिये व्यक्ति को यह जानना चाहिये कि अर्थहीन व्यक्ति को कोई मान्यता नहीं देता और अर्थहीन पुरुष की दरिद्रता उसके लिये मृत अवस्था जैसी होती है।[४]

---

१. अर्थ एव प्रधान इति कौटिल्यः। अर्थ मूलौ हि धर्मकामाविति।
कौ० अ०, पृ० २४ ७/७/४

२. वही, पृ० ६/४/-

३. वही, पृ० ६५२

४. वही, पृ० ६५६, ६६३

अर्थ और अर्थशास्त्र की परिभाषा में कौटिल्य के अपने विचार दूसरों से हटकर हैं और नवीन रूप से प्रस्तुत किये गये हैं। एक स्थान पर आचार्य कौटिल्य ने मनुष्यों की जीविका को अर्थ कहा है और दूसरी परिभाषा में उन्होंने मनुष्यों से युक्त भूमि को अर्थ कहा है। अपनी इसी विचार धारा के अनुसार वे भूमि को प्राप्त करने तथा उसकी रक्षा करने वाले उपायों का निरूपण करने वाले शास्त्र को अर्थशास्त्र कहते हैं।[१]

आचार्य कौटिल्य ने जब अपना प्रसिद्ध ग्रन्थ कौटिल्य अर्थशास्त्र लिखा तो उन्होंने यह लिखा कि पृथिवी के लाभ और पालन के लिये पूर्वाचार्यों ने जो ग्रन्थ लिखे हैं उनका सार संकलन करके यह ग्रन्थ लिखा गया है।[२]

आचार्य कौटिल्य ने जब अर्थ की परिभाषा में वृत्ति का अर्थात् जीविका का उल्लेख किया है तो एक विद्वान् वृत्ति का अर्थ वार्ता के रूप में करते हैं। वार्ता के अन्तर्गत कृषि, पशु-पालन और वाणिज्य भी होता है।[३]

महाभारत में अर्थशास्त्र को दण्ड नीति के रूप में प्रतिपादित किया गया है और राजधर्म से जोड़ा गया है। वहाँ पर यह कहा गया है कि राजा द्वारा सम्पादित नीति दण्ड नीति है और दण्ड नीति ही राज संस्थापन की एक सहज एवं सरल नीति है।[४] इसका अभिप्राय यह है कि दण्ड के द्वारा ही राज्य का संचालन सम्भव है और विधि पूर्वक प्रयोग की गई दण्ड नीति से राज्य स्थापित होता है और विधिवत संचालित होता है। आचार्य कौटिल्य भी इस मत से लगभग सहमत दिखाई देते हैं क्योंकि जब वे दण्ड नीति की व्यवस्था करते हैं तो राज्य संचालन के लिये दण्ड नीति को अपरिहार्य मानते हैं।[५]

---

१. कौ० अ०, पृ० ६३७

२. कौ० अ० , पृ० १

३. कौ० उ० स० अ० , पृ० ४६

४. म० भा० शां० प० ५६/७६, ६३/२८

५. कौ० अ० , पृ० १६

दण्ड नीति को अर्थशास्त्र से जुड़ा हुआ इसलिये मानना चाहिये क्योंकि अनेक विद्वानों ने दण्ड नीति और अर्थ नीति में समानता को स्वीकार किया है और यह माना है कि अर्थ के लिये दण्ड के प्रयोग की अनिवार्यता आवश्यक है। मनु स्मृति के टीकाकार मेघातिथि ने दण्ड नीति की व्याख्या में कहा है कि इस नीति के प्रयोक्ताओं में कौटिल्य अर्थशास्त्र के रचनाकार कौटिल्य का महत्वपूर्ण स्थान है।[१] आचार्य शुक्र की शुक्र-नीति में राजा के नियम अनुशासन आदि के सन्दर्भ में कहा गया है।[२]

ग्रन्थ के रूप में कौटिलीय अर्थशास्त्र :-

कौटिल्य द्वारा लिखित अर्थशास्त्र ग्रन्थ आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक विचारों का एक अपूर्व ग्रन्थ है जिसकी तुलना अन्य किसी ग्रन्थ से नहीं की जा सकती है। स्वीकृत विषय वस्तु एक विशेष प्रकार की क्रमबद्धता से लिखी गई है और विस्तार पूर्वक उसका विवेचन किया गया है। यही इस ग्रन्थ में कौटिल्य की शैली की विशेषता भी है। कौटिल्य अर्थशास्त्र में राजा, मन्त्री, राज्य प्रशासन और कर्मचारियों के सम्बन्ध में विस्तार पूर्वक वर्णन किया गया है। अर्थात् राजा को किस वंश से होना चाहिये, उसे किस प्रकार से विद्या प्राप्त करना चाहिये और किस तरह से वह साव-धानी-पूर्वक राज्य का संचालन करे इसका विस्तार पूर्वक वर्णन इस ग्रन्थ में किया गया है। इसी तरह से कौटिल्य मंत्रियों और राज्य कर्मचारियों के विषय में भी पर्याप्त विचार करते हैं तथा यह लिखते हैं कि मन्त्रियों और राज्य कर्मचारियों को राजा के प्रति पूर्ण रूप से समर्पित होना चाहिये।

---

१. म० स्मृ० ७/४३ पर टीका
२. शु० नी० ४/३/२५

जो मन्त्री और राज्य कर्मचारी इस प्रकार के विचारों वाला नहीं है, वह राजा के अनुकूल नहीं है और वह प्रजा के लिये भी हितकारी नहीं है। इसलिये कौटिल्य अर्थशास्त्र में आचार्य कौटिल्य ने लिखा है कि मन्त्रियों और राज्य कर्मचारियों की नियुक्ति राजा को विचार-पूर्वक करना चाहिये। आचार्य जहाँ एक ओर इनके कर्तव्यों का वर्णन करते हैं वहीं दूसरी ओर इनके अधिकारों का वर्णन विस्तार पूर्वक करते हैं।

आचार्य चाणक्य ने अपने इस ग्रन्थ में गांवों, शहरों की स्थिति का वर्णन भी किया है। वे यह भी लिखते हैं कि इनका निर्माण कैसे हो और इन्हें कहाँ पर बसाया जाये। वे शासन द्वारा स्थापित न्यायालयों में सम्पादित होने वाले वादों पर विवेचन प्रस्तुत करते हैं। यह ग्रन्थ केवल राज्य और उसकी व्यवस्था पर ही अपना मन्तव्य प्रस्तुत नहीं करता अपितु वृद्धों और निराश्रितों को आश्रय कैसे मिले इसका विवेचन भी करता है और इसमें यह निर्देश करता है कि परिवारीजन वृद्धों को किस प्रकार का आश्रय दें और जो वृद्ध पूरी तरह से निराश्रित हैं राज्य से उनको कितना और किस प्रकार का आश्रय मिले। इसी तरह से महिलाओं के सम्बन्ध में भी कौटिल्य अर्थशास्त्र की दृष्टि स्पष्ट है। इसलिये वे विवाह और तलाक की विवेचना भी करते हैं। इस विवेचन में वे इस विषय में स्पष्ट निर्देश देते हैं कि राज्य की ओर से ऐसी कोई शिथिलता नहीं होनी चाहिये जिससे स्त्री के अधिकार का हनन हो और वह किसी के द्वारा भी पीड़ित की जाये। कौटिल्य इस विषय में सावधान हैं और वे ऐसी नीतियों तथा नियमों का निर्देश करते हैं जिससे स्त्री अपने अधिकार की प्राप्ति कर सके और कोई भी उसका शोषण न कर पावे।

कौटिल्य का यह ग्रन्थ राज्य और राजनीति से भरा पड़ा है। इसलिये राजा की नीति सभी प्रकार से सफल हो एतदर्थ वह कूट नीति का प्रयोग कैसे करे इसका संकेत भी आचार्य कौटिल्य ने किया कूटनीतिक व्यवस्था में नैतिक मान्यताओं की उपेक्षा की है और यह मत व्यक्त किया है कि राज्य संचालन में कहीं-कहीं नैतिक व्यवहारों से विरत रहना पड़ता है। आचार्य कौटिल्य इसके साथ ही साथ अपने ग्रन्थ अर्थशास्त्र में थल सेना और नौ सेना के गठन में विस्तार से लिखते हैं और इन सेनाओं का प्रयोग कब कहां किस रूप में करना चाहिये इसका निर्देश भी विस्तार से करते हैं।

यह तथ्य विदित ही है कि जीवन के सभी कार्य संचालित करने के लिये कृषि मूल में होती है। अर्थात् कृषि के द्वारा ही व्यक्ति का जीवन चलता है परिवार चलते हैं और समाज का संचालन भी सुव्यवस्थित ढ़ंग से होता है इसलिये इस दृष्टि से आचार्य कौटिल्य ने कृषि कार्य की विवेचना विधिवत की है। किस प्रकार की भूमि में किस प्रकार के बीजों का वपन करना और किस प्रकार से कृषि को समुन्नत बनाना चाहिये इसका प्रयोग आचार्य कौटिल्य ने विधि पूर्वक किया है।

आचार्य कौटिल्य ने इस ग्रन्थ को पन्द्रह अधिकरणों में बाँटा है। इनमें से पांच अधिकरण राज्य के आन्तरिक प्रशासन से सम्बन्धित हैं। इनमें राजा के प्रशिक्षण, मन्त्रिओं और पदाधिकारियों की नियुक्ति तथा शासक की दिनचर्या का विस्तार पूर्वक वर्णन किया गया है। इन अधिकरणों में भूमि का बन्दोवस्त, विधि और न्याय की व्यवस्था का वर्णन तो है ही राजा और उसके कर्मचारी अपराध को किस प्रकार नियन्त्रित करें इसका भी वर्णन विस्तार पूर्वक किया गया है।

इस ग्रन्थ के छठवें अधिकरण में राज्य की सात प्रकृतियों का वर्णन है। इसके सातवें और आठवें अधिकरण में राजा की विदेश नीति और उसके व्यसनों का संकेत किया गया है। नवें और दसवें अधिकरण का सम्बन्ध सेना और युद्ध की व्यवस्था से है। इन अधिकरणों में यह विवेचित किया गया है कि राजा अपनी सेना का गठन किस प्रकार करे और युद्ध का अवसर आने पर उसका प्रयोग किस प्रकार करे। इसमें विचार पूर्वक यह विवेचन है कि शत्रु पर आक्रमण करने के लिये कितनी सेना हो और आक्रमण की नीति कैसी हो। इसका ग्यारहवां अधिकरण यह वर्णन करता है कि विजेता राजा किस प्रकार से विजित राजा को अपने में मिलाये और बारहवें अधिकरण में यह कहा गया है कि कम शक्ति वाला राजा अपना विवेचन किस प्रकार करे। इसी विषय को विस्तृत करते हुये तेरहवें अधिकरण में यह विवेचन है कि शत्रु के किले से सम्पन्न राजधानी युद्ध और बुद्धि के बल से किस प्रकार जीती जाये और उसको कैसे अपने अधीन किया जाये।

कौटिल्य अर्थशास्त्र का चौदहवां अधिकरण गुप्तचरों के प्रयोग का वर्णन करता है और यह बताता है कि किस प्रकार से गुप्तचरों का प्रयोग करके राजा अपने शत्रुओं से बचे। पन्द्रहवें अधिकरण में यह वर्णन है कि राजा प्रजा के साथ मिलकर किस प्रकार व्यवहार करे।

इस तरह से इस ग्रन्थ के अन्त में कौटिल्य ने सूक्ति वाक्य दिये हैं जिससे उनका गम्भीर चिन्तन और वैदुष्य प्रकट होता है। इनके इस प्रकार के ग्रन्थ के प्रस्तुतिकरण से यह भी ज्ञात होता है कि कौटिल्य का अर्थशास्त्र न केवल राजनीति पर आधारित ग्रन्थ है और न केवल अर्थनीति पर; अपितु यह एक ऐसा ग्रन्थ है जो राज्य की सम्पूर्ण व्यवस्था पर अपना मन्तव्य व्यक्त करता है।

रचयिता एवं समय :-

आचार्य कौटिल्य का व्यक्तित्व मौर्य साम्राज्य के साथ यश का भागीदार बना था। भारत के राजनैतिक इतिहास में आचार्य कौटिल्य की कीर्ति अमर है। अर्थशास्त्र ग्रन्थ के रूप में संस्कृत साहित्य में उनका अनूठा स्थान है। यही कारण है कि आचार्य कौटिल्य का नाम प्राचीन भारत के विशिष्ट-विशिष्ट ग्रन्थों में प्राप्त होता है। पुराण, काव्य और नाटकादि आचार्य के नाम का उल्लेख अपने विशेष-विशेष सन्दर्भों में करते हैं।

पिता ने जो नाम अपने पुत्र को दिया था वह विष्णु गुप्त था। अर्थात् पिता के द्वारा इन्हें विष्णु गुप्त के रूप में पुकारा गया था क्योंकि इनके पिता का नाम चणक था इसलिये वे पिता के नाम के साथ जोड़ने के कारण चाणक्य कहे गये थे। इन्होंने कुटिल राजनीति का एक आकर ग्रन्थ लिखा इसलिये इन्हें कौटिल्य कहा गया, जबकि कुछ लोगों का मन्तव्य यह है कि इनके गोत्र का नाम कुटिल था इसलिये इन्हें कौटिल्य कहा गया। इनके जीवन को लेकर, इनके नाम को लेकर और इनके जन्म समय को लेकर अनेक प्रकार के मत व्यक्त किये जाते हैं। इन मतों में भारतीय विद्वानों में और पाश्चात्य विद्वानों में अपनी-अपनी दृष्टि से भिन्नता है। कुछ विद्वान तो यह कहते हैं कि कौटिल्य नाम का कोई व्यक्ति हुआ ही नहीं है और इस ग्रन्थ का लेखक कोई कौटिल्य नहीं था। इस रूप में इनके ग्रन्थ को फर्जी मान लिया गया और यह मान्यता प्रदर्शित की गई कि न कोई कौटिल्य था और न ही कौटिल्य के द्वारा रचित अर्थशास्त्र नाम का कोई ग्रन्थ है।

पण्डित सामशास्त्री नामक एक विद्वान् ने सर्वप्रथम इस ग्रन्थ का उद्धार किया। उन्हें मैसूर राज्य से यह ग्रन्थ प्राप्त हुआ था जिसके कुछ अंशों को पहले १६०५ ई० में प्रकाशित किया गया था। बाद में १६०६ में इस ग्रन्थ को प्रामाणिक रूप से प्रस्तुत किया गया और इसके शुद्ध पाठ को छापा गया। इस प्रकार से आचार्य कौटिल्य के विषय में जो अनेक प्रकार की भ्रान्तियाँ थीं उनका निराकरण हुआ और यह तथ्य सामने आया कि कौटिल्य चन्द्रगुप्त के मन्त्री थे। इनके द्वारा रचित अर्थशास्त्र का यह ग्रन्थ प्रामाणिक है और साम शास्त्री द्वारा शुद्ध पाठ करके जो ग्रन्थ प्रकाशित किया गया है वह भी प्रामाणिक है।

संस्कृत की कथा परम्परा में पञ्च तन्त्र नाम का ग्रन्थ अपनी सरल शैली के कारण अत्यधिक प्रसिद्ध है। इस ग्रन्थ की रचना तीसरी शताब्दी के पूर्व हो चुकी थी। इसमें आचार्य कौटिल्य को मनु, शुक्राचार्य और पाराशर के साथ स्मरण किया गया है और इन सबके साथ कौटिल्य को नञ् शास्त्र का कर्ता बतलाया गया है।[1] संस्कृत के एक नाटक मुद्रा राक्षस में भी चाणक्य के जीवन की आंशिक कथा है। इतिहासविदों ने मुद्रा राक्षस की रचना का समय छठवीं ईसवीय माना है। इसीलिये चाणक्य को इस समय के पूर्व का आचार्य होना चाहिये। दण्डी ने आचार्य कौटिल्य का स्मरण किया है और यह निर्देश किया है कि अध्येता को कौटिल्य की दण्डनीति का अध्ययन करना चाहिये।[2] इस रूप में आचार्य कौटिल्य के स्मरण किये जाने से हम यह अनुभव कर सकते हैं कि कौटिल्य दण्डनीति के आचार्य थे और इसी के साथ-साथ यह भी कह सकते हैं कि कौटिल्य दण्डी के पूर्व अपनी रचना से प्रतिष्ठित हो चुके थे जिससे गद्यकार दण्डी को अपनी रचना में कौटिल्य का स्मरण करना पड़ा।

---

१. प० त०, पृ० १
२. दा० कु० च०, पृ० ६३

अर्थशास्त्र ग्रन्थ के अध्येताओं ने जब राजाओं के दुर्ग निर्माण के विषय में पढ़ा तो वहाँ पर यह देख कि कौटिल्य ने राजाओं को यह निर्देश दिया है कि जब वे दुर्ग का निर्माण करें तो दुर्ग के बीच में ही मन्दिरों की स्थापना करें। इन मन्दिरों में ब्रह्मा, इन्द्र, यम , स्कन्ध आदि मुख्य द्वार के इष्ट हों। इस रूप में प्राप्त उल्लेख के आधार पर इतिहास विद यह मत व्यक्त करते हैं कि पाणिनि के समय में शिव, स्कन्ध की पूजा हुआ करती थी इसलिये कौटिल्य का समय पाणिनि का समय हो सकता है। अर्थशास्त्र ग्रन्थ में ही अनेक स्थानों में यह उल्लेख प्राप्त है जिसमें यह संकेत किया गया है कि कौटिल्य अर्थशास्त्र के रचनाकार हैं। प्रथम अधिकरण के प्रथम अध्याय के अन्त में कौटिल्य को इस शास्त्र का प्रणेता कहा गया है। इसी तरह से द्वितीय अधिकरण के दसवें अध्याय के अन्त में राजाओं के लिये शासन विधि के निर्माता के रूप में कौटिल्य का स्मरण किया गया है।

और भी अनेकों इतिहासविद तथा विद्वान् हैं जो कौटिल्य के अर्थशास्त्र और इनके काल निर्धारण के विषय में पर्याप्त विचार करते हैं और अपने-अपने मत स्थापित करते हैं। एक भारतीय विद्वान् का यह कहना है कि जो भी कोई कौटिल्य के सम्बन्ध में अपने विचार व्यक्त करता है और यह कहता है कि कौटिल्य नाम का कोई व्यक्ति ही नहीं था, वह भ्रामक विचार व्यक्त करता है। यथार्थ में ४०० वर्ष ईसा पूर्व में कौटिल्य अर्थशास्त्र की रचना हो चुकी थी।[१] एक अन्य विद्वान् आचार्य कौटिल्य को अर्थशास्त्र के रचनाकार के रूप में स्वीकार करते हैं और अनेक मत मतान्तरों का खण्डन करते हुये यह मन्तव्य देते है कि आचार्य कौटिल्य ३०० वर्ष ईसा पूर्व में थे।[२]

---

१. हि० र० त०, पृ० ३२७-३६४
२. भा० इ० रु० रे०, पृ० ५४७, ६७३

अन्य मत-मतान्तरों में दूसरे और भी ऐसे विद्वान् हैं जो यह बताते हैं कि अर्थशास्त्र आचार्य कौटिल्य की महान कृति है। वे यह मत व्यक्त करते हैं कि इस ग्रन्थ की रचना ३२१ और ३०० वर्ष ईसा पूर्व के बीच हुई होगी। इस ग्रन्थ की समाप्ति पर स्वयं कौटिल्य ने यह लिखा है कि जिसने शस्त्र, शास्त्र और नन्दराजा के अधीन भूमि का उद्धार अपने क्रोध से किया है वही यह विष्णुगुप्त है जो अर्थशास्त्र का रचयिता है। अर्थशास्त्र के प्रारम्भ में कौटिल्य ने अपना नाम कौटिल्य ही लिखा है, जबकि ग्रन्थ की समाप्ति पर उन्होंने अपना नाम विष्णुगुप्त लिखा है। इससे यही प्रतीति होती है कि उनके ये दोनों नाम प्रचलित थे। इनमें से उनका एक नाम पिता के द्वारा दिया गया था और दूसरा नाम सम्भवतः उनकी कुटिल राजनीति के लेखक होने के कारण कौटिल्य हुआ था। कौटिल्य के सम्बन्ध में हम जब अन्य सन्दर्भों का आलोकन करते हैं तो दण्डी, बाण और अन्य रचनाकार इनका सन्दर्भ लेकर जो उद्धरण देते हैं उनमें भी विष्णुगुप्त और कौटिल्य के रूप में इनका नाम का उल्लेख है।[१]

धर्मशास्त्र के इतिहास के प्रसिद्ध लेखक श्री पी०वी० काणे ने विस्तार पूर्वक अर्थशास्त्र और अर्थशास्त्र के लेखक के विषय में विचार किया है और निष्कर्ष के रूप में अपना यह मत दिया है कि इस ग्रन्थ की रचना का समय ३०० वर्ष ईसा पूर्व का होना चाहिये। उनका यह मन्तव्य है कि जब हम कौटिल्य और उनके अर्थशास्त्र के विषय में विचार करते हैं तब हम यह अनुभव करते हैं कि इसके लिये हमें अन्तः प्रमाणों पर ही निर्भर रहना चाहिये क्योंकि यही प्रमाण सार्थक प्रतीत होते हैं। बाह्य प्रमाणों का आधार लेकर हम कौटिल्य अर्थशास्त्र के विषय में अपना कोई सार्थक निष्कर्ष प्रस्तुत नहीं कर सकते।[२]

इस रूप में जो निष्कर्ष सार्थक प्रतीत होता है उसके विषय में हम यही कह सकते हैं कि इस ग्रन्थ और ग्रन्थ के रचनाकार का समय ३०० वर्ष ईसा पूर्व ही होना चाहिये।

---

१. कौ० यु० द० , पृ० १६

२. ध० शा० इ० (१), पृ० ३२

कौटिल्य वर्णाश्रम समाज :-

आचार्य कौटिल्य यद्यपि राज्य व्यवस्था के लेखक हैं और वे इसी दृष्टि से अपने ग्रन्थ अर्थशास्त्र में राजा की राजनीति और समाज के आर्थिक पक्ष का विवरण प्रस्तुत करते हैं तथापि वे समाज में प्रारम्भ से चली आ रही वर्णाश्रम व्यवस्था को भी सामाजिक व्यवस्था के रूप में स्वीकार करते हैं। वे वर्णों और आश्रमों के लिये पृथक्-पृथक् कर्तव्यों का कथन करके यह मत व्यक्त करते हैं कि वर्ण व्यवस्था के साथ-साथ आश्रम व्यवस्था भी सामाजिक व्यवस्था के बने रहने में सहयोगी है और इन व्यवस्थाओं के माध्यम से व्यक्ति के जीवन में एक प्रकार की विधि व्यवस्था बनी रहती है।[१]

वर्णाश्रम व्यवस्था के माध्यम से हम यह देख सकते हैं कि जहां वर्ण व्यवस्था प्रत्येक व्यक्ति के लिये धर्म रूप में उसे अपने-अपने कर्तव्य करने के लिये प्रेरित करती है वहीं पर आश्रम व्यवस्था के माध्यम से व्यक्ति अपने-अपने आश्रमों का समय व्यतीत करता हुआ अगली पीढ़ी के लिये स्थान भी रिक्त करता जाता है। जैसे कि ब्रह्मचारी अपने लिये निर्धारित कर्तव्य करता है और बाद में गृहस्थ बन कर समाज की व्यवस्था में सहायक होता है। उसी तरह से गृहस्थ अपने लिए निर्धारित कर्तव्यों का पालन करता है और जो जीवन का भौतिक उपभोग है उसे निर्धारित समय तक पाकर आनन्द का अनुभव करते हुए वानप्रस्थ आश्रम में प्रवेश कर जाता है। ऐसा करता हुआ वह अपनी अगली पीढ़ी के लिए अपना स्थान रिक्त करता जाता है। इसमें वह अपनी सन्तानों के लिए अपने द्वारा उपार्जित सम्पति दे देता है और स्वयं अपने लिये परम कल्याण की खोज में वन का आश्रय लेता है। आचार्य कौटिल्य ने इस प्रकार की व्यवस्था के माध्यम से समाज के स्वरूप का निरूपण किया है और इसे स्वीकार किया है।

---

१. कौ० अ०, पृ० १२-१३

कौटिल्य इस सीमित दायरे में ही समाज के स्वरूप का निर्धारण नहीं करते अपितु वे समाज में जो भिन्न जाति समूह हैं उनके लिए भी कर्तव्यों का निर्धारण करते हैं। इस कर्तव्य निर्धारण के क्रम में वे सामान्य जनों के साथ-साथ राजा के कर्तव्यों का कथन करते हैं और यह निर्देश देते हैं कि राजा सामान्य जनों का पालन करे। उसके राज्य में सभी को समान रूप से संरक्षण प्राप्त हो और कोई भी अन्याय का पात्र न बने। चाणक्य समाज में ब्राहमणों को, वैश्यों को, संन्यासियों को और तपस्वियों को महत्व प्रदान करते हैं और उनकी विशिष्टताओं को भी प्रतिपादित करते हैं किन्तु वे ऐसा करते हुए भी समाज के नितान्त उपेक्षित वर्ग को भुलाते नहीं हैं और इसी दृष्टि से वेश्याओं के लिए भी राज्याश्रय का विधान करते हैं।[१]

कौटिल्य कालिक समाज में पारिवारिक स्वरूप की सुदृढ़ता के भी पर्याप्त संकेत मिलते हैं। इन संकेतों में यह कहा गया है कि परिवार समाज की एक ऐसी इकाई है जिस पर सम्पूर्ण समाज का ढाँचा टिका हुआ है। आचार्य कौटिल्य ने यद्यपि पृथक् रूप से किसी समाज के स्वरूप का निरूपण तो नहीं किया किन्तु इतना अवश्य कहा है कि राजा प्रजा का सम्बन्ध पिता और पुत्र की भाँति है इसलिये राजा को प्रजा का संरक्षण करना चाहिये और वह अपने पुत्रों को समय-समय पर संस्कारित करें।[२]

---

१. कौ० अ० , पृ० २५५-२५८

२. वही , पृ० ६६-६७

वर्ण व्यवस्था :-

आचार्य कौटिल्य भारत की वर्ण व्यवस्था को लगभग उसी तरह से स्वीकार करते हैं जैसे कि प्रारम्भ से चली आयी थी। इसलिये वे चारों वर्णों का स्वरूप निर्धारित करते हुये सभी वर्णों के लिए धर्म रूप कर्तव्य का आख्यान करते हैं। उन्होंने ब्राह्मणों के लिए जिन कर्तव्य रूप धर्म का आख्यान किया है वहाँ पर यह लिखा है कि ब्राह्मण अध्ययन करे और अध्यापन करावे। वह यजन करे और याजन कराये अर्थात् स्वयं यज्ञ कर्ता रहे और यज्ञ में प्रवृत्त होने के लिए दूसरों को प्रेरित करे। इसी तरह से ब्राह्मण दान दे और दान ले। ऐसा करना ब्राह्मण के लिये कर्तव्य है और यही उनके लिये धर्म भी है।[१]

इस रूप में हम यहाँ एक विशेषता देखते हैं कि जहाँ कौटिल्य ने ब्राह्मणों के लिए बाह्य कर्तव्य रूप धर्म का आख्यान किया है वहीं पर वे मनुष्य के उन मानवीय सद्गुणों का उल्लेख भी करते हैं जिनका पालन करना सभी के लिये सर्वधर्म है। इन गुणों में वे यह लिखते हैं कि कोई भी किसी भी स्थिति में किसी की हिंसा न करे अर्थात् कोई भी हिंसा में प्रवृत्त न हो। सभी सत्य वचन का पालन करें और असत्य भाषण से दूर रहें। सभी के लिए यह श्रेष्ठ आचरण है कि वह अपने जीवन में पवित्रता का आचरण करे और उसका यह प्रयत्न हो कि वह अपवित्र न रहे। किसी को किसी से ईर्ष्या न हो। सभी-सभी के प्रति दया का भाव रखें और क्षमाशील होवें।[२] इस रूप में कर्तव्य रूपी धर्मों के अतिरिक्त ये ऐसे सद्गुण हैं जो सभी के लिए पालन करने योग्य हैं।

---

१. स्वधर्मो ब्राह्मणस्याध्ययनमध्यापनं यजनं याजनं दानं प्रतिग्रहश्चेति।
कौ० अ०, पृ० १२
सर्वेषामहिंसा सत्यं शौचमनसूयानृशंस्यं क्षमा च ।
वही, पृ० १४

कौटिल्य जब वर्णों के लिए कर्तव्य रूप धर्म का कथन करते हैं तो वे यह लिखते हैं कि जो कोई भी अपने कर्तव्य रूप धर्म का पालन करता है वह स्वर्ग और मोक्ष की प्राप्ति करता है। इसके विपरीत जो अपने कर्तव्य रूप धर्म का पालन नहीं करता वह वर्ण संकरता को प्राप्त होता है तथा लोक के नाश का हेतु बनता है।[१]

कौटिल्य जब राजा के लिए कर्तव्यों का निर्देश करते हैं तब वे यह लिखते हैं कि प्रजा में यदि कोई व्यक्ति अपने धर्म का पालन नहीं करता तो राजा का यह कर्तव्य है कि राजा उससे धर्म का पालन करावे। जो राजा ऐसा करता है वह लोक और परलोक में सुख का भागीदार बनता है।[२]

कौटिल्य के समय सम्भवतः यह निश्चय नहीं था कि राजा केवल क्षत्रिय वर्ण का ही हो सकता है। उस समय के दिए गए सन्दर्भों से ऐसा प्रतीत होता है कि क्षत्रिय वंश के अतिरिक्त इतर वंशों में उत्पन्न हुए व्यक्ति भी राजा हो सकते थे। कुछ विद्वानों ने यह तर्क दिया है कि उस समय के शासकीय संघों में ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा दूसरे वर्ण के लोग भी होते थे जिन्हें आचार्य कौटिल्य शस्त्र जीवी कहते हैं।[३]

कौटिल्य ने क्षत्रियों के लिए जिस धर्म रूप कर्तव्यों का वर्णन किया है उसके अनुसार वे लिखते हैं कि जो क्षत्रिय वर्ण में उत्पन्न हुए हैं उनका कर्तव्य है कि वे अध्ययन करें, यज्ञ करें, दान दें और शस्त्र बल से अपनी आजीविका प्राप्त करें तथा प्राणियों की रक्षा करें।[४]

इस रूप में यदि शस्त्र द्वारा आजीविका प्राप्त करने के विधान को देखा जाये और प्राणियों की रक्षा का कर्तव्य देखा जाए तो यह स्वतः ही स्पष्ट हो जाता है कि ये सभी के सभी कर्तव्य क्षत्रियों के लिए हैं और ऐसा क्षत्रिय तब राजा ही होता था। इसीलिए राजा के लिए यह विधान किया गया है कि वह प्राणियों की रक्षा आवश्यक रूप से करे।

---

१. कौ० अ० , पृ० १४

२. वही , पृ० १४

३. हि० र० तं० , पृ० ४६, कौ० अ० , पृ० ८२१

४. क्षत्रिस्याध्ययनं यजनं दानं शस्त्राजीवो भूतरक्षणं च। कौ.अ., पृ० १८

आचार्य कौटिल्य ने जब विद्याओं की विवेचना की है तो वहाँ पर अन्य विद्याओं के साथ-साथ वार्ता विद्या का उल्लेख भी किया है। यद्यपि उनके पूर्व में वार्ता विद्या का उल्लेख किया गया था किन्तु तब ऐसा करते हुये वार्ता विद्या को केवल लोक जीवन चलाने वाली विद्या कहा गया था किन्तु आचार्य कौटिल्य ने इस विद्या को लोक की एक महत्वपूर्ण विद्या के रूप में स्थापना की है। उन्होंने यह लिखा है कि यह विद्या जीवन की एक महत्वपूर्ण विद्या है।[१] इस विद्या का विवरण देते हुए आचार्य कौटिल्य ने कृषि पशु-पालन और व्यापार को वार्ता विद्या के रूप में कहा है और यह लिखा है कि धान्य, पशु, हिरण्य, ताम्र आदि खनिज पदार्थ तथा सेवक आदि देने वाली विद्या है। यह इस जीवन का उपकार करती है इसलिये यह उपकारणीय विद्या भी है। इस विद्या से उपार्जित कोश और सेना से राजा स्वपक्ष को और परपक्ष को अपने वश में करता है।[२]

कौटिल्य ने जब वैश्यों के कर्तव्यों का वर्णन किया है तब उन्होंने इस वर्ण को भी एक प्रतिष्ठित वर्ण के रूप में स्वीकार किया है और इस वर्ण को वार्ता विद्या का सम्पूर्ण रूप से अधिकारी माना है। उन्होंने वैश्यों के कर्तव्यों में लिखा है कि यह वर्ण यजन करे, दान दें, कृषि कर्म का सम्पादन करें, पशु पालन और व्यापार में संलग्न रहें वह इन्हीं कर्मों के द्वारा प्रतिष्ठा प्राप्त करता है और वह इन्हीं कर्तव्यों के करने से समाज में एक विशेष वर्ण के रूप में अपनी स्थिति को सुरक्षित रखता है।[३]

कौटिल्य की दृष्टि से कृषि और वाणिज्य महत्वपूर्ण कार्य हैं। उनका मन्तव्य है कि कृषि कार्य का सम्पादन विधि-पूर्वक होना चाहिये इसीलिए वे राजाओं को यह निर्देश करते हैं कि राजा कृषि कार्य के ठीक से सम्पादन के लिए अपने राज्य में कृषि विभाग का अध्यक्ष नियुक्त करे। वह भूमि और कृषकों के अनुसार श्रेष्ठ तथा उचित बीजों का संरक्षण करे।

---

१. कौ० अ० , पृ० १०

२. कृषिपशुपाल्ये वाणिज्या च वार्ता। धान्यपशुहिरण्यकुप्यविशिष्ट प्रदानादि औपकारिकी। तथा स्वपक्षं परपक्षं च वशी करोति कोशदण्डाभ्याम् ।वही पृ० १५

३. वही, पृ० १२ - १३

वह वर्षा आदि का विचार करता हुआ कृषि की योजना बनाये। इसी तरह से कौटिल्य अर्थागम के साधन के रूप में व्यवसाय का भी विचार करते हैं और तौल, भाव, यातायात आदि का विस्तार से संकेत करते हैं। उन्होंने वस्तुओं के क्रय करने का और उनके विक्रय करने का नियम भी निर्धारित किया है जिससे वाणिज्य के महत्व का अंकन भी किया जा सकता है और इस रूप में यह कहा जा सकता है कि कौटिल्य ने वैश्यों के लिए कृषि तथा व्यापार का आवंटन करके उसे एक विशेष वर्ण के रूप में स्थापित किया है।[१]

कौटिल्य ने अपने इस ग्रन्थ में शूद्र वर्ण का उल्लेख भी किया है। इस वर्ण के कर्तव्यों के रूप में वे लिखते हैं कि यह वर्ण द्विजातियों की सेवा करे और वार्ता, शिल्प तथा गायन-वादन जैसे कार्यों में अपना सहयोग करे।[२]

जब कौटिल्य ने वार्ता विद्या का विस्तार से वर्णन किया है तो इसी क्रम में उन्होंने शिल्प कारियों का परिचय भी दिया है। उन्होंने कारीगरों को, लेन-देन करने करने वालों को, धोबी, दर्जी, सुनार और नट-नर्तक आदि को शिल्प करने वाला ही बताया है। कौटिल्य ने इन सबके लिये यथोचित कर्तव्यों का निरूपण किया है और यह लिखा है कि ये सभी अपने-अपने लिए निर्धारित कर्तव्यों का पालन विधिपूर्वक करें। वे इस बात पर विशेष जोर देते हैं कि प्रत्येक वर्ण के लिये जिन कर्तव्यों का कथन किया गया है वही कर्तव्य उन वर्णों के लिए धर्म स्वरूप भी हैं। इसलिए जो भी अपने कर्तव्यों का निर्वाह विधि पूर्वक करता है वह धर्म का पालन करने वाला होता है और इस दृष्टि से अपने कर्तव्यों का पालन करना ही धर्म का पालन करना है।[३]

इस रूप में कौटिल्य अर्थशास्त्र में सभी वर्णों के लिये कर्तव्य कथन के साथ समाज की श्रेष्ठ परम्परा का कथन प्राप्त होता है जो कौटिल्य के विचारों के अनुसार सामाजिक व्यवस्था का तत्कालीन स्वरूप भी निर्धारित करता है।

---

१. कौ० अ० , पृ० ३६२- ३६३, २६१

२.शूद्रस्य द्विजाति शुश्रूषा वार्ता कारुकुशीलव कर्म च। कौ० अ० , पृ० १३

३.वही , पृ० ४२१- ४२८

आश्रम व्यवस्था : -

कौटिल्य ने भी अपने पूर्ववर्ती आचार्यों की भांति चार आश्रमों को स्वीकृत किया है। वे आश्रमों की स्थिति को स्वीकार करते हुए यह लिखते हैं कि ये आश्रम मनुष्य के वैयक्तिक जीवन के उत्थान् के हेतु हैं। इन आश्रमों में व्यक्ति जिन कर्तव्य रूप धर्मों का पालन करता है उससे व्यक्ति का जीवन सुखमय और शान्तिप्रद होता है। आचार्य कौटिल्य ने आश्रमों के कर्तव्यों का वर्ण के क्रम में परिवर्तन किया है, जिसमें वे पहले गृहस्थ आश्रम के कर्तव्यों का वर्णन करते हैं और बाद में ब्रह्मचर्य आश्रम का निरूपण करते हैं। इसके पीछे सम्भवतः यह भाव हो सकता है कि ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ और संन्यस्थ आश्रम की अपेक्षा गृहस्थ आश्रम इसलिए श्रेष्ठ है क्योंकि अन्य तीन आश्रम गृहस्थ पर निर्भर हैं।[1] संस्कृत कवि परम्परा के श्रेष्ठ कवि कालिदास ने ऐसा ही लिखा है जिसमें उन्होंने यह माना है कि अपनी जीविका संचालन के लिये अन्य तीन आश्रम गृहस्थ आश्रम पर निर्भर होते हैं।

कौटिल्य ने गृहस्थ आश्रम का वर्णन करते हुए लिखा है कि वह अपनी परम्परा के अनुसार अपने लिए निर्धारित कार्यों की पूर्ति करके अपनी जीविका प्राप्त करे। वह गृहस्थ आश्रम में प्रवेश करने के लिये समगोत्र में अथवा विषम गोत्र में विवाह करे। वह सदा देव, पितर अतिथि और सेवकों को भोजन देकर ही भोजन करे।[2]

जब आचार्य ब्रह्मचर्य धर्म का निरूपण करते हैं तब यह लिखते हैं कि ब्रह्मचारी का कर्तव्य है कि वह नियमित स्वाध्याय करे, प्रतिदिन नियम-पूर्वक अग्नि में हवन करता रहे, स्नानादि करता हुआ भिक्षाटन करने के लिए जावे। वह अपने जीवन में गुरु की सेवा में संलग्न रहे और गुरु की अनुपस्थिति में गुरु पुत्र अथवा किसी सहाध्यायी का आश्रय लेकर अपना समय व्यतीत करे।

---

१. कौ० अ० , पृ० १३, अ० शा० , पृ० ६

२. कौ० अ० , पृ० १३

आश्रम व्यवस्था : –

कौटिल्य ने भी अपने पूर्ववर्ती आचार्यों की भांति चार आश्रमों को स्वीकृत किया है। वे आश्रमों की स्थिति को स्वीकार करते हुए यह लिखते हैं कि ये आश्रम मनुष्य के वैयक्तिक जीवन के उत्थान के हेतु हैं। इन आश्रमों में व्यक्ति जिन कर्तव्य रूप धर्मों का पालन करता है उससे व्यक्ति का जीवन सुखमय और शान्तिप्रद होता है। आचार्य कौटिल्य ने आश्रमों के कर्तव्यों का वर्ण के क्रम में परिवर्तन किया है, जिसमें वे पहले गृहस्थ आश्रम के कर्तव्यों का वर्णन करते हैं और बाद में ब्रह्मचर्य आश्रम का निरूपण करते हैं। इसके पीछे सम्भवतः यह भाव हो सकता है कि ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ और संन्यस्थ आश्रम की अपेक्षा गृहस्थ आश्रम इसलिए श्रेष्ठ है क्योंकि अन्य तीन आश्रम गृहस्थ पर निर्भर हैं।[१] संस्कृत कवि परम्परा के श्रेष्ठ कवि कालिदास ने ऐसा ही लिखा है जिसमें उन्होंने यह माना है कि अपनी जीविका संचालन के लिये अन्य तीन आश्रम गृहस्थ आश्रम पर निर्भर होते हैं।

कौटिल्य ने गृहस्थ आश्रम का वर्णन करते हुए लिखा है कि वह अपनी परम्परा के अनुसार अपने लिए निर्धारित कार्यों की पूर्ति करके अपनी जीविका प्राप्त करे। वह गृहस्थ आश्रम में प्रवेश करने के लिये समगोत्र में अथवा विषम गोत्र में विवाह करे। वह सदा देव, पितर अतिथि और सेवकों को भोजन देकर ही भोजन करे।[२]

जब आचार्य ब्रह्मचर्य धर्म का निरूपण करते हैं तब यह लिखते हैं कि ब्रह्मचारी का कर्तव्य है कि वह नियमित स्वाध्याय करे, प्रतिदिन नियम-पूर्वक अग्नि में हवन करता रहे, स्नानादि करता हुआ भिक्षाटन करने के लिए जावे। वह अपने जीवन में गुरु की सेवा में संलग्न रहे और गुरु की अनुपस्थिति में गुरु पुत्र अथवा किसी सहाध्यायी का आश्रय लेकर अपना समय व्यतीत करे।

---

१. कौ० अ० , पृ० १३, अ० शा० , पृ० ६

२. कौ० अ० , पृ० १३

आचार्य कौटिल्य जब वानप्रस्थ आश्रम में निवास करने वाले तपस्वी के लिये व्यवहार का निरूपण करते हैं तब वे यह लिखते हैं कि ऐसा व्यक्ति भूमि में शयन करे, जटायें रखावे, मृग चर्म धारण करे, अग्निहोत्र करे, देवताओं, पितरों तथा अभ्यागतों की सेवा करे। अपने जीवन को सुसंयत रखता हुआ किसी प्रकार के भोग की इच्छा न करता हुआ वह वन में रहकर कन्दमूल फल का भक्षण करे और उसी पर निर्भर रह कर अपना जीवन व्यतीत करे।[१]

परिव्राजक अथवा संन्यासी के विषय में भी आचार्य कौटिल्य अपना मत व्यक्त करते हैं और लिखते हैं कि परिव्राजक को अपनी इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करनी चाहिये अर्थात् परिव्राजक इन्द्रिय जयी होवे। वह कोई भी ऐसा कार्य अपने जीवन में न करे जिससे उसकी जीवन यात्रा चलती हो अर्थात् वह किसी भी ऐसे कार्य में प्रवृत्त न हो जिस कार्य से उसे जीविका का आश्रय मिलता हो। वह समाज में भी किसी का आश्रय न ले और न ही समाज के बीच में रहे। आचार्य कौटिल्य ने लिखा है कि उसका ऐसा स्वभाव हो जिसमें उसे समूह में रहने की इच्छा न हो और न ही समूह में रहने की आकांक्षा करे। उसे अपना जीवन एकाकी ही व्यतीत करना है और यह अभ्यास करना है कि उसका मन, वचन और कर्म सदा पवित्र रहे।[२] इसी तरह से इस रूप में आचार्य कौटिल्य ने जब इन आश्रमों का वर्णन किया तो उन्होंने इसकी फलःश्रुति के रूप में यह बताया कि आश्रम व्यवस्था का पालन करने के कारण व्यक्ति सदा सुखी रहता है। यह पवित्र आर्य मर्यादा है और इससे सम्पूर्ण समाज सुख का अनुभव करता है।[३]

---

१. कौ०अ० , पृ० १३

२. परिव्राजकस्य संयतेन्द्रियत्वमनारम्भो निष्क्रिमूचनत्वं संगत्यागो भैक्षमनेकत्रारण्यवासो वाह्याभ्यन्तरं च शौचम् । वही, पृ० १३

३. व्यवस्थितार्ममर्यादा कृतवर्णाश्रमस्थितिः।
त्रय्याहि रक्षितो लोकः प्रसीदति न सीदति।। वही, पृ० १४

आचार्य कौटिल्य आश्रम व्यवस्था के साथ सभी इसका परिपालन करें इसके लिये नियमों का निरूपण तो करते ही हैं वे यह भी चाहते हैं कि आश्रम व्यवस्था में जिसके लिये जो नियम कहे गये हैं उनका परिपालन अवश्य हो। इसलिये वे यह संकेत करते हैं कि कोई भी व्यक्ति समर्थ होकर भी यदि अपने पुत्र-पुत्रियों का माता-पिता का और पत्नी का भरण पोषण नहीं करता है तो राजा के लिये यह आवश्यक है कि राजा ऐसे व्यक्ति को दण्ड देकर स्थापित मर्यादा में चलने का निर्देश दें। उनका यह स्पष्ट अभिमत है कि व्यक्ति को अपने श्रेय के लिये और समाज की व्यवस्था के लिए यह आवश्यक है कि वह अपने लिये निर्धारित आश्रम के कर्तव्यों का निर्वाह ठीक से करें। यदि वह ऐसा नहीं करता तो दण्ड का भागीदार बनता है और राजा उसे दण्ड देकर यथोचित मार्ग पर चलने का निर्देश दे।

इसी प्रकार से वे यह भी निर्देश करते हैं कि जिस व्यक्ति का समय जिस आश्रम में रहने का है वह उसी आश्रम में रहे, जिससे कि वह समयानुकूल अपने लिए निर्धारित कर्तव्यों का पालन करे। इसके लिए आचार्य कौटिल्य ने यह लिखा है कि यदि कोई व्यक्ति गृहस्थ आश्रम का परिपालन करता हुआ अपने पुत्रों और पत्नी का बिना जीवन निर्वाह के संन्यास ग्रहण कर लेता है तो उसे ऐसा करने का अधिकार नहीं है। फिर भी यदि वह ऐसा करता ही है तो यह राजा का कर्तव्य है कि राजा उसे समुचित दण्ड दे।

इस रूप में आचार्य कौटिल्य का जो मन्तव्य हम समझ सकते हैं उसके अनुरूप यह कहा जा सकता है कि कौटिल्य हर परिस्थिति में यह चाहते हैं कि व्यक्ति जो जिस आश्रम में रह रहा है वह उस आश्रम के कर्तव्यों का पालन विधिपूर्वक करे। कौटिल्य का यह कथन है कि कर्तव्य ही धर्म है और कर्तव्यहीन व्यक्ति धर्महीन व्यक्ति है इसलिये ऐसा व्यक्ति दण्ड पाने का अधिकारी है।

परिवारिक स्वरूप :-

पारिवारिक जीवन की कल्पना प्रारम्भ समय से ही मनुष्य के लिये एक सुखदायक कल्पना रही है। इसके लिये सभी प्रयत्नशील रहे हैं और परिवार कैसे सुगठित रहे, कौन किस प्रकार की भूमिका का निर्वाह करे इसका विचार होता रहा है। एक उपनिषद् में यह कहा गया है कि मनुष्य लोक पुत्र के द्वारा ही तप करने योग्य है।[१] इसका अभिप्राय है कि परिवार में पुत्र ही महत्वपूर्ण है इसलिए परिवार के संचालन के लिए उसे संस्कार देकर खड़ा करने का विधान है।[२]

आचार्य कौटिल्य भी परिवार में पुत्र के महत्व को स्वीकार करते हैं और लिखते हैं कि जीवन में पुत्र लाभ ही सर्वोच्च लाभ है। मनुष्य की दुर्गति से रक्षा करने वाला पुत्र ही होता है और किसी भी कुल में सुपुत्र के उत्पन्न होने से कुल की ख्याति होती है।[३] इस दृष्टि से आचार्य कौटिल्य ने पुत्र को शिक्षा देने की और संस्कार देने की बात लिखी है। राजा के लिए उन्होंने लिखा है कि उसे पुत्र के अनुकूल रहना चाहिए और यदि उसको धन की कमी है तो उसे अन्य साधनों से प्राप्त करना चाहिए।

कौटिल्य परिवार के अन्य दो प्रमुख सदस्यों का भी उल्लेख करते हैं जिसमें पति और पत्नी का उल्लेख किया गया है। वे पति और पत्नी के सम्बन्ध को एक सुदृढ़ सम्बन्ध बताते हुए यह लिखते हैं कि पत्नी को चाहिए कि वह सदा पति के अनुकूल चलने का प्रयत्न करे। पति के अनुकूल चलने वाली पत्नी ही इस लोक में और परलोक में सुख प्राप्त करतीं हैं।[४]

---

१. बृ० उ० १/५/१६
२. कौ० उ० २/८/१०
३. कौ० अ० , पृ० ६७१
४. वही, पृ० ६७६

पारिवारिक सामञ्जस्य विधि पूर्वक चले एतदर्थ कौटिल्य का यह निर्देश हैकि परिवार में जो वृद्ध हैं तथा जिनकी सेवा की जानी चाहिए जिनका भरण-पोषण किया जाना चाहिए उनके प्रति पुत्र-पुत्रियों का भाव यथानुरूप होवे। इसका अभिप्राय यह है कि परिवार में माता का स्थान सर्व श्रेष्ठ है इसलिये माता और साथ ही साथ पिता का भरण-पोषण करना पुत्र का दायित्व है।[१] इस प्रकार का व्यवहार करना परिवार के लिए और पारिवारिक सुख सम्पन्नता के लिए आवश्यक है, इसलिए कौटिल्य यह विधान करते हैं और परिवार की प्रतिष्ठा को यथोचित मान देते हैं।

प्राचीन भारत में स्त्री की मर्यादा का ध्यान सदा सर्वदा रखा गया है इसलिए यह कहा गया है कि स्त्री शील के आभूषण से आभूषित हो और परिवार में उसके भरण-पोषण की उचित व्यवस्था हो। कौटिल्य इसी तथ्य को ध्यान में रखकर विवाह परम्परा का समर्थन करते हैं और यह लिखते हैं कि जब पुरुष का विवाह होता है तभी संसार के सारे व्यवहार चलते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि जब तक किसी पुरुष का सम्बन्ध स्त्री के साथ नहीं होता अथवा परिवार में स्त्री को महत्व नहीं मिलता तब तक परिवार के किसी स्वरूप की स्थिति भी नहीं होती। पारिवारिक स्वरूप उसकी स्थिति और उसकी मर्यादा तभी है जब परिवार में स्त्री को पूर्ण महत्त्व मिलें। कौटिल्य ने यह लिखा है कि जो स्त्री पुत्र को जन्म देती है वह भार्या है। पुत्र उत्पन्न करना और उसका यथोचित पालन-पोषण करना स्त्री के जन्म की सार्थकता है।[२] अर्थात् जब परिवार में स्त्री सन्तान वती होकर उसका पालन-पोषण करते हुए उसे संस्कृति सम्पन्न बनाती है तभी वह सार्थक होती है और उसका परिवार भी विधिवत स्थापित होता है।

---

१. कौ० अ०, पृ० ६७०

२. वही, पृ० ६७१

स्त्री और उसके अधिकार : –

यह तो पहले ही संकेतित किया जा चुका है कि इस देश में प्राचीन समय से ही स्त्री के महत्व को रेखांकित किया जाता रहा है। इसलिए तभी से यह विचार भी किया जाता रहा है कि परिवार में स्त्री को क्या अधिकार मिलने चाहिए और किस रूप में परिवार में उसे प्रतिष्ठा की अधिकारिणी होना चाहिए। प्राचीन समय में एक सूत्रकार ने यह लिखा है कि आभूषण पत्नी की सम्पति होती है जिसे वह अपने सम्बन्धियों से प्राप्त करती है।[१] इसी तरह एक अन्य सूत्रकार भी अपना मत व्यक्त करते हुए लिखते हैं कि कन्या जो आभूषण अपनी माता से पाती हैं और जो परम्परा से उसे मिलता है वह उसी का होना चाहिए।[२] एक सन्दर्भ में इस प्रकार का कथन किया गया है जिसमें यह कहा गया है कि माता को अपने विवाह के समय जो कुछ प्राप्त हो उसे कन्याओं को आपस में बाँट लेना चाहिए।[३]

मनुस्मृतिकार महर्षि मनु ने यह लिखा है कि विवाह के समय अग्नि के समक्ष जो कुछ कन्या को दिया गया है वह सभी उसी का धन है। इसी तरह से उसकी विदायी के समय स्नेहियों ने अथवा उसके बन्धु-बान्धवों ने उसे जो कुछ दिया है वह भी उसी कन्या का धन है। जब कन्या का विवाह होता है तब माता, पिता, भाई और बन्धु उसे कुछ न कुछ देते हैं। इस सन्दर्भ में भी महर्षि मनु ने लिखा है कि ऐसा जो भी धन कन्या को प्राप्त हुआ है वह सब कुछ उसी का है और उसे ही मिलना चाहिए।[४] इस रूप में प्राचीन समय से ही स्त्रियों के अधिकारों की व्यवस्था करने का प्रयत्न किया जाता रहा है और इसी को स्त्री धन कहा जाता रहा है।

---

१. आ० ध० सू० २/६/१४/९
२. बौ० ध० सू० २/२/४९
३. व० ध० सू० १७/४६
४. म० स्मृ० ९/१९४

आचार्य कौटिल्य ने भी स्त्रियों के इस अधिकार पर विस्तार पूर्वक विचार किया है। उन्होंने अपने ग्रन्थ कौटिल्य अर्थशास्त्र में स्त्री धन के सम्बन्ध में विचार करते हुए यह लिखा है कि यह धन दो प्रकार का होता है। वे लिखते हैं कि इस प्रकार के एक धन को वृत्ति कहा जाता है और दूसरे धन को आवद्ध कहते हैं। अर्थात् स्त्री धन दो तरह का होता है जिसमें वह एक प्रकार से वृत्ति धन कहलाता है और दूसरे प्रकार से आबद्ध धन कहलाता है। वे लिखते हैं कि जो धन दो हजार की सीमा तक हो और किसी कोषागार आदि में निक्षेपित किया जाय उसे स्त्री धन कहते हैं।[1]

कौटिल्य ने आबद्ध अथवा आबन्ध्य स्त्री धन को वह धन बताया है जो सदा उसके पास रहता है और जिसकी कोई सीमा नहीं होती। यह वह धन है जो स्त्री के पास आभूषणों के रूप में सुरक्षित रहता है। इसके लिए कौटिल्य ने लिखा है कि यह किसी भी सीमा तक रखा जा सकता है और यह सदा स्त्री के पास ही रहता है। कौटिल्य स्त्री को स्त्री धन के व्यय करने का अधिकार देते हैं और यह लिखते हैं कि किसी भी स्त्री का पति यदि परदेश चला जाये तो वह अपने पुत्र और पुत्रवधू के जीवन निर्वाह के लिए अपने स्त्री धन को खर्च कर सकती है। इसी तरह से आचार्य कौटिल्य ने यह भी लिखा है कि यदि परिवार किसी विपत्तिमें पड़ जाये अथवा देश में दुर्भिक्ष हो जाये तब स्त्री अथवा उसका पति स्त्री धन को व्यय करके अपना जीवन निर्वाह कर सकता है। यदि इस अवस्था में पति ही स्त्री धन को व्यय करता है तो पति को भी किसी प्रकार का दोष नहीं होगा अथवा आपत्ति और दुर्भिक्ष के समय पति को भी स्त्री धन व्यय करने का अधिकार है। इस सम्बन्ध में आचार्य का यह मन्तव्य है।

---

१. कौ० अ० , पृ० ३२१

स्त्री पुरुष के दो सन्तान होने पर यदि दोनों सहमत होकर स्त्री धन को व्यय करते हैं तब भी उन्हें किसी प्रकार का दोष नहीं होगा।[1] आचार्य एक स्थान पर यह मन्तव्य व्यक्त करते हैं कि गान्धर्व विवाह अथवा आसुर विवाह जिन्होंने किया हो वे यदि स्त्री धन व्यय करते हैं तो उनसे ब्याज सहित मूल धन जमा कराया जाना चाहिये। इसी प्रकार से यदि राक्षस विवाह और पशिाच विवाह हुआ हो तो इस विवाह को करने वाला पति यदि स्त्री धन को खर्च करता है तो उसे चोरी करने वाले की तरह दण्ड दिया जाना चाहिए।[2]

दाय का स्वरूप और उत्तराधिकार :-

प्राचीन भारत में सम्पत्ति की व्यवस्था को लेकर प्रारम्भ काल से ही इसके विषय में विचार होता रहा है। इस विचार के क्रम में तैन्तरीय संहिता में एक सन्दर्भ इस प्रकार का है जिसमें यह कहा गया है कि मनु ने अपनी सम्पत्ति को दाय के रूप में अपने पुत्रों को बाँट दिया था।[3] इसी तरह का एक दूसरा सन्दर्भ इस प्रकार का है जिसमें यह संकेत किया गया है कि महर्षि विश्वामित्र अपने आध्यात्मिक ज्ञान को दाय रूप में देने के लिए शुनःशेप को आमन्त्रित करते हैं।[4]

स्मृति कालिक समाज में भी सामाजिक व्यवस्था का वर्णन करते हुए यह लिखा है कि सभी को अपनी सम्पत्ति का विभाजन यथोचित रूप में करना चाहिये और दान के रूप में उसे उत्तराधिकारियों को देना चाहिये। इस सम्बन्ध में एक उल्लेख इस प्रकार का है कि दाय अप्रतिबन्ध और सप्रतिबन्ध के रूप में दो प्रकार का होता है। जो धन अपने पुत्रों और पौत्रों को उनके पुत्रत्व और पौत्रत्व के रूप में दिया जाता है वह धन चाचा के भाईयों आदि से प्राप्त होता है। वह धन सप्रतिबन्ध दाय कहलाता है।[5]

१. कौ० अ० पृ० ३२२
२. वही, पृ० ३२२
३. तै० सं० ३/१/९/४
४. ऐ० ब्रा० ३३/५
५. यद्धनं स्वामिसम्बन्धादेव निमित्तादन्यस्य स्वंभवति तदुच्यते।
स च द्विविधः अप्रतिबन्धः सप्रतिबन्धश्च, मिता, पृ० २६५

आचार्य कौटिल्य ने दाय भाग को लेकर और उत्तराधिकार को लेकर विस्तार से विचार किया है। वे लिखते हैं कि जब तक माता-पिता अथवा पिता ही केवल जीवित हैं तब तक उनके रहते हुए पुत्र उनकी सम्पत्ति का अधिकारी नहीं होता। पुत्र को उनकी सम्पत्ति का अधिकार तभी मिलता है जब वे दोनों न रहें। इसमें भी यदि पुत्र ने स्वयं कोई सम्पत्ति अर्जित की है तो उसका विभाजन किसी दूसरे के लिए नहीं किया जा सकता।[१]

कौटिल्य यह भी लिखते हैं कि यदि कोई परिवार संयुक्त परिवार के रूप में काम करता है तो उसके पुत्र-पौत्र यहाँ तक कि उसके चौथी पीढ़ी तक के परिवारीजन उस परिवार की अविभाजित सम्पत्ति के अधिकारी होते हैं।[२]

इसी तरह से कौटिल्य ने यह भी लिखा है कि जिस किसी पुत्र के कोई पुत्र न हो और उसका सन्तति क्रम विछिन्न हो रहा हो तो उसकी सम्पत्ति का अधिकार उसके सगे भाईयों को होता है। अर्थात् पुत्र न होने की स्थिति में उसके सगे भाई उसकी सम्पत्ति का बंटवारा कर सकते हैं और उसकी सम्पत्ति को प्राप्त कर सकते हैं। इसी तरह से जिस किसी व्यक्ति के पास नकद धन है अथवा आभूषण रूप धन है तो वह धन पहले तो पुत्रों को प्राप्त होना चाहिये किन्तु उस पुरुष के यदि पुत्र नहीं हैं तो पुत्रियों को वह धन प्राप्त होना चाहिये। यदि किसी पुरुष की अकाल मृत्यु हो जाती है और उसके न पुत्र हैं न पुत्रियां हैं तो ऐसे पुरुष के माता-पिता उसके धन के अधिकारी होते हैं।[३]

---

१. कौ० अ०, पृ० ३३७
२. वही, पृ० ३३७
३. वही, पृ० ३३८

एक स्थान पर आचार्य कौटिल्य ने समाज की बड़ी विचित्र स्थिति का उल्लेख किया है। इसमें उन्होंने यह लिखा है कि यदि किसी माता से अनेक पुरुषों द्वारा अनेक पुत्र उत्पन्न होते हैं तो इस स्थिति में पिताओं के द्वारा उत्पन्न पुत्रों के क्रम से दाय भाग का निश्चय होना चाहिये। अर्थात् जिस क्रम से माता के साथ पिता का सम्पर्क हुआ है और जिस क्रम से पुत्र उत्पन्न हुए हैं उसी क्रम से उनकी वरिष्ठता का निर्धारण करते हुए पुत्रों को दाय भाग मिलना चाहिए।[१]

दाय भाग का विचार करते हुए कौटिल्य यह लिखते हैं कि यदि कोई पिता अपनी जीवित अवस्था में अपनी सम्पत्ति का विभाग करना चाहे और अपनी सम्पत्ति पुत्रों को देना चाहे तो ऐसा करता हुआ वह उस समय तक के सभी पुत्रों को समान अधिकार दे। इस स्थिति में वह किसी भी पुत्र को उसके अधिकार से वञ्चित न करे और बड़े छोटे के भेद से भी उनके बीच में दी जाने वाली सम्पत्ति का बंटवारा भी न करे। यदि कोई पिता मृत्यु को प्राप्त हो गया है और वह अपनी सम्पत्ति बाद में छोड़ गया है तो बड़े भाई का दायित्व है कि वह अपने छोटे भाईयों का पालन-पोषण करें और उचित रीति से उसकी देखभाल करें। इसमें कौटिल्य यह अवश्य लिखते हैं कि इस स्थिति में यदि कोई भाई कुमार्ग पर चलता है और पारिवारिक परम्परा का उल्लंघन करता हुआ बड़े भाई के निर्देश को स्वीकार नहीं करता है तो ऐसी स्थिति में बड़ा भाई छोटे भाई के पालन-पोषण से मुक्त हो जाता है।[२]

---

१. कौ० अ० पृ० ३२८
२. वही, पृ० ३३८

आचार्य कौटिल्य ने सूक्ष्मता के साथ और विचार पूर्वक दाय भाग का निरूपण किया है जिसमें उन्होंने यह लिखा है कि जब तक पुत्र बालिग नहीं है तब तक सम्पत्ति का बंटवारा नहीं किया जाना चाहिए। इसी तरह से यदि कोई पुत्र विदेश चला गया है तो उसके वापस आने तक उसकी सम्पत्ति की देख-रेख किसी वृद्ध व्यक्ति के द्वारा की जानी चाहिए। इसी प्रकार से जिस समपत्ति का कोई उत्तराधिकारी न हो उस सम्पत्ति को अधिग्रहीत करने का अधिकार राजा को है किन्तु इसी के साथ राजा का यह कर्तव्य भी है कि उसकी विधवा के भरण-पोषण के लिये अथवा उसके श्राद्ध कर्म के लिये कुछ धन छोड़ देवे। इसी तरह से राजा के लिए यह निर्देश भी है कि वह श्रोत्रिय का धन कदापि न लें ऐसा करना उनके लिए वर्जित है। यदि ऐसी कोई सम्पत्ति राजा को प्राप्त होती है तो राजा को चाहिये कि इस प्रकार की सम्पत्ति का वितरण राजा विद्वान् ब्राह्मण में ही कर देवें।[१]

कौटिल्य लिखते हैं कि जो पतित हैं तथा जो सन्तान पतितों से पैदा हुई है उसे दाय भाग प्राप्त करने का अधिकार नहीं है। इसी तरह से जो कोई नपुंसक है उसे भी दाय भाग प्राप्त करने का अधिकार नहीं है। जो व्यक्ति मूर्ख है, अन्धा है, कोढ़ी है आचार्य कौटिल्य लिखते हैं कि उसे भी दाय भाग नहीं दिया जाना चाहिए, किन्तु किसी कोढ़ी से यदि उच्छी सन्तानें उत्पन्न हुई हैं तो उस सन्तान को दाय भाग दिया जाना चाहिये।[२]

१. कौ० अ० , पृ० ३४०
२. वही , पृ० ३४०

आचार्य कौटिल्य ने पैतृक क्रम से दाय भाग को प्राप्त करने का विधान लिखा है। इस सन्दर्भ में उन्होंने जो निरूपण किया है उससे यह प्रतीत होता है कि वे अधिकतम रूप से स्मृतिकारों द्वारा की गई व्यवस्था के अनुरूप दाय भाग को प्रस्तावित करते हैं। इस रूप में उन्होंने लिखा कि एक स्त्री के अनेक पुत्र हों तो जो ज्येष्ठ हो उसे वर्ण क्रम से पशु आदि की सम्पत्ति देनी चाहिये। इनमें से यदि पुत्र ब्राह्मण वर्ण का है तो उसे बकरियां देनी चाहिये, यदि पुत्र क्षत्रिय वर्ण का है तो वह अश्व प्राप्त करने का अधिकारी है। इसी तरह से यदि पुत्र वैश्य वर्ण का है तो वह गो सम्पत्ति प्राप्त करने का अधिकार रखता है। कौटिल्य लिखते हैं कि शूद्र वर्ण के पुत्र को इसी प्रकार से दाय भाग के रूप में भेड़ें दी जानी चाहिये। इसी तरह से वे यह भी लिखते हैं कि यदि हीरे, जवाहरात हों तो उन्हें छोड़कर सम्पूर्ण सम्पत्ति के दसवें भाग को बड़े पुत्र को देना चाहिए क्योंकि वही पितरों को पिण्ड दान करता है और श्राद्ध की व्यवस्था करता है। आचार्य कौटिल्य लिखते हैं कि मेरा मत उष्णा का मत है।[१]

पैतृक दाय के सम्बन्ध में आचार्य कौटिल्य ने यह लिखा है कि मृतक पिता की सम्पत्ति में सवारी और आभूषण ज्येष्ठ पुत्र को दिये जाने चाहिये। इसी तरह से सोने और बिछौने के वस्त्र बर्तनों के साथ मंझले पुत्र को देना चाहिए। काला अन्न, लोहा और बैलगाड़ी आदि छोटे लड़के को देना चाहिए। शेष जो सामग्री हो वह सभी में बराबर के हिस्से से बाँट देनी चाहिए।[२]

१. कौ० अ० पृ० ३४१

२. वही, पृ० ३४१

आचार्य कौटिल्य ने यह लिखा है कि विवाह परम्परा परिवार के लिये और पारिवारिक दाय प्राप्त करने के लिए बहुत महत्वपूर्ण परम्परा है इसलिए किसी अविवाहित स्त्री के पुत्र हो तो उसे उत्तराधिकार में विवाहित स्त्री के उत्पन्न हुए पुत्र के बाद ही उत्तराधिकार मिलना चाहिए। किसी भी पुरुष के द्वारा उत्पन्न हुए पुत्र के बाद ही उत्तराधिकार मिलना चाहिये। किसी भी पुरुष के द्वारा उत्पन्न हुआ पुत्र हो तो वह बड़ा समझा जायेगा, अपेक्षाकृत उस पुत्र के जो अविवाहित स्त्री में उत्पन्न हुआ है। इसलिए उस पुत्र को उत्तराधिकार में पहले सम्पत्ति प्राप्त करने का अधिकार होगा। इसी तरह से जो जुड़वाँ पैदा हुए हैं उनमें से उसी को पहले उत्तराधिकार में सम्पत्ति प्राप्त होगी जो पहले उत्पन्न हुआ होगा और जो ज्येष्ठ होगा।[१]

कौटिल्य ने यह भी लिखा है कि यदि किसी ब्राह्मण के चार पत्नियां हों और चारों से चार पुत्र उत्पन्न हुए हों तो उनमें से ब्राह्मण स्त्री से उत्पन्न हुए पुत्र को सम्पत्ति के चार भाग मिलने चाहिए। इसी तरह से क्षत्रिय से जो उत्पन्न हुआ हो उसे सम्पत्ति के तीन भाग मिलने चाहिए। जो ब्राह्मण पिता से और वैश्य माता से उत्पन्न हुआ है वह पिता की सम्पत्ति में से दो भाग पाने का अधिकारी है और जो शूद्रा से उत्पन्न हुआ पुत्र है वह एक भाग पाने का अधिकारी है।[२]

कौटिल्य ने उत्तराधिकार की स्थिति को स्पष्ट करते हुए यह नियम निर्देशित किया है कि ब्राह्मण से यदि सवर्ण में कोई पुत्र उत्पन्न हुआ है तो वह सम्पत्ति के अधिक भाग को पाने का अधिकारी है क्योंकि उसे पिण्डदान करने का अधिकार है। पिण्डदान वही करता है जो सवर्ण में उत्पन्न हुआ है और जिसे परम्परा से पिण्डदान करने का अधिकार है।[३]

---

१. कौ० अ० , पृ० ३४२

२. वही , पृ० ३४३

३. वही , पृ० ३४४

आचार्य कौटिल्य ने पुत्रों के क्रम से उत्तराधिकार का वर्णन भी किया है। वे यह लिखते हैं कि विधिपूर्वक विवाहित स्त्री से उत्पन्न हुआ पुत्र औरस कहा जाता है और उसी प्रकार से पुत्री के पुत्र को भी माना जाता है। जो पुत्र समान गोत्र में अथवा भिन्न गोत्र वाली स्त्री में उत्पन्न हुआ है उस पति के पुत्र को क्षेत्रज कहते हैं। यदि मृतक पिता का कोई पुत्र न हो अथवा दो पिताओं से उत्पन्न हुआ हो अथवा दो गोत्र वाला पुत्र हो तो उन दोनों को पिण्ड दान करने का अधिकार है और वे दोनों ही सम्पत्ति के उत्तराधिकारी होते हैं।[१]

इसी प्रकार से आचार्य कौटिल्य ने गूढ़ज पुत्र का भी विवरण दिया है। इस पुत्र के विषय में उन्होंने लिखा है कि अपने पिता अथवा बन्धुओं से उत्पन्न हुआ पुत्र उनकी सम्पत्ति का उत्तराधिकारी होता है। किन्तु ऐसा पुत्र जो गूढ़ज के समान दूसरे से उत्पन्न हुआ हो, वह केवल अपने पालन-पोषण करने वालों की सम्पत्ति का अधिकारी होता है।[२]

आचार्य कौटिल्य ने दत्तक पुत्रों की परम्परा का उल्लेख भी किया है। उन्होंने यह भी लिखा है कि जो कोई अपने पुत्र को अपने हाथ में जल लेकर उसे दूसरे के हाथ में दे दे वह दत्तक पुत्र होता है। वे लिखते हैं कि ऐसे पुत्र को पालन-पोषण करने वाले की सम्पत्ति का अधिकार प्राप्त होता है।[३]

---

१. स्वयं जातः कृतक्रियामौरसः। तेन तुल्यः पुत्रिकापुत्र। समगोत्रेण वा अन्यगोत्रेण वा नियुक्तेन क्षेत्रजातः क्षेत्रजः पुत्रः। जनयितुस्त्यिस्मिन् पुत्रे स एव द्विपितृको द्विगोत्रो वा द्वयोपरि स्वधारिक्यभाग् भवति। कौ०अ०, पृ० ३४६

२. वही , पृ० ३४६

३. वही, पृ० ३४६

आचार्य कौटिल्य के पूर्व और समकालिक समय में दत्तक पुत्र की परम्परा का उल्लेख स्मृतियों में भी किया गया है। यह अवश्य है कि वहाँ पर दत्तक पुत्र की परम्परा का और इसके विषय में विस्तारसे वर्णन नहीं किया गया है। अर्थात् स्मृतियां यह संकेत तो करतीं हैं कि तत्कालीन समय में दत्तक पुत्र समाज में होते थे और वे किसी माता पिता के द्वारा किसी दूसरे को उसका वंश चलाने के लिए उसे दे दिए जाते थे। इन्हीं को दत्तक पुत्र के रूप में कहा जाता था और ये उनकी सम्पत्ति के उत्तराधिकारी होते थे जो इनका पालन-पोषण करते थे।

आचार्य कौटिल्य ने यह संकेत किया है कि सवर्णों और अवर्ण स्त्रियों में उत्पन्न पुत्र किनसे अधिकार प्राप्त करें और जो पुत्र ब्राह्मणों के द्वारा वेश्यायों में उत्पन्न हुए हैं उन्हें किस प्रकार का अधिकार प्राप्त हो। कौटिल्य ने अपने समय की समाज व्यवस्था के लिए उत्तराधिकार के रूप में जो निर्देश किया है उन निर्देशों के अनुरूप वे सभी को यथोचित अधिकार देने के पक्ष में हैं। अर्थात् उनकी दृष्टि से यदि सवर्ण पुत्रों को उनका अधिकार मिलना चाहिए तो अवर्ण पुत्रों को भी उनके अधिकार से वंचित नहीं किया जाना चाहिए।

अन्त में कौटिल्य ने यह निर्धारित कर दिया है कि जिस देश, संघ, जाति और गांव में जिस प्रकार का व्यवहार श्रेयस्कर हो और धर्मानुरूप हो वहाँ दाय विभाग का विचार उसी प्रकार का करना चाहिए[१] और ऐसा प्रयत्न करना चाहिए कि समाज व्यवस्था में दाय भाग को लेकर किसी प्रकार का विग्रह न हो। कौटिल्य समाज में और परिवार में भी शान्ति की स्थिति चाहते थे जिससे उत्तराधिकार को लेकर समाज में किसी प्रकार का विग्रह न हो।

---

१. देशस्य जात्यः सङ्घस्य धर्मो ग्रामस्य वापि यः।
उचितस्तस्यते नैव दायधर्म प्रकल्पयेत्।। कौ० अ० , पृ० ३४६

स्त्री तथा पुरुष के पुनर्विवाह का अधिकार :-

कौटिल्य ने स्त्री तथा पुरुष के विवाह सम्बन्धों पर पर्याप्त मात्रा में विचार किया है और यह निर्देशित करने का प्रयास किया है कि किसी दम्पत्ति का यदि वैवाहिक जीवन ठीक नहीं चल रहा है अथवा किसी के पति या पत्नी की मृत्यु हो गई है तो किस स्थिति में उन दोनों को पुनर्विवाह कर लेना चाहिए। इस सम्बन्ध में आचार्य का यह निर्देश है कि यदि किसी स्त्री का पति मर जाये तो उसे दूसरे पुरुष से विवाह करने का अधिकार है किन्तु प्रथम विवाह के समय उसे जो धन प्राप्त हुआ था उसे ब्याज सहित वापिस कर दें। ऐसी स्थिति तब होती हैजब कोई स्त्री अपने श्वसुर की इच्छा के विरुद्ध विवाह करना चाहती है क्योंकि उस स्थिति में वह अपने पूर्व पति के धन से वंचित हो जाती है। अर्थात् जब कोई स्त्री अपने पति के मरने पर किसी दूसरे पुरुष से विवाह करती है तो वह अपने पूर्व मृत सम्पत्ति की अधिकारिणी नहीं रह जाती।[1]

इस विषय को लेकर आचार्य ने पर्याप्त रूप से विचार मन्थन किया है और यह लिखा है कि शूद्र, वैश्य, क्षत्रिय और ब्राह्मण की स्त्रियां यदि बिना पति के रह रहीं हों और उनके पति विदेश चले गये हों तथा वे निर्धारित समय तक वापस न आवें तो उनके परिवार के सदस्यों को चाहिए कि वे ऐसी स्त्रियों के विवाह दूसरे पुरुषों के साथ कर देवें।[2] आचार्य कौटिल्य इसी क्रम में यह लिखते हैं कि जिस किसी स्त्री का पति राजकार्य से बाहर गया हो तो उस स्त्री को चाहिए कि वह सम्पूर्ण आयु पर्यन्त अपने पति की प्रतीक्षा करे। ऐसा करते हुए यदि किसी स्त्री का संयोग अपने समान वर्ण वाले पुरुष से हो जाये और उससे उसे सन्तान हो जाए तो समाज को यह स्वीकार कर लेना चाहिए।[3]

---

१. कौ०अ० , पृ० ३२२-३३३

२. वही, पृ० ३३४

३. ब्राह्मणमधीयानं दशवर्षाण्यप्रजाता, द्वादश प्रजाता। राजपुरुषं वा आयु क्षयादाकांक्षेत। सवर्णतश्च प्रजाता नापवादं लभते। वही, पृ० ३३४

आचार्य कौटिल्य एक ऐसे आचार्य हैं जो व्यवहारिक दृष्टिकोण से जीवन के सभी पक्षों पर विचार करते हैं। इसलिये वे स्त्री के जीवन को लेकर भी उसके व्यवहार को देखते हुए यह लिखते हैं कि ऋतुकाल में स्त्री को पुरुष का संयोग न मिलना धर्मनाश के बराबर अमंगलकारी है। अर्थात् समय से ऐसा न होने पर अमंगल की सम्भावना रहती है। इसलिए आचार्य कौटिल्य ने इस नियम का निर्देश किया है कि एक निश्चित समय पर यदि पुरुष और स्त्री का संयोग न हो तो धर्माधिकारी से आज्ञा लेकर कोई भी स्त्री अपना दूसरा विवाह कर सकती है।[१]

प्राचीन परम्परा में 'द्वितीयोवर देवरः' यह सिद्धान्त दिया गया है। इस सिद्धान्त के आधार पर यह कहने का प्रयत्न किया गया है कि देवर द्वितीय वर के सदृश है इसलिए कौटिल्य भी लिखते हैं कि जब स्त्री के लिए पुनर्विवाह आवश्यक हो तो वह ऐसा कर सकती है। यदि देवर एक से अधिक होवें तो उनमें से जो सबसे ज्येठा हो उसके साथ स्त्री को विवाह कर लेना चाहिये। इसी के साथ आचार्य कौटिल्य ने यह निर्देश भी किया है कि यदि किसी स्त्री का सगा देवर न होवे अर्थात् उसके पति का सगा भाई न हो तो पारिवारिक सम्बन्ध से यदि किसी अन्य पुरुष के साथ देवर जैसा सम्बन्ध बनता हो तो स्त्री को उसके साथ विवाह करने का अधिकार है। आचार्य ने यह भी लिखा है कि पारिवारिक सम्बन्ध से मिलने वाला देवर सदृश यदि कोई पुरुष उपलब्ध नहीं है तो वह स्त्री यह अधिकार रखती है कि वह अपने किसी सजातीय पुरुष से विवाह कर ले अथवा जो उसके गोत्र के समीप गोत्र वाला हो उसके साथ वह विवाह करे।[२] अर्थात् स्त्री हर स्थिति में पुनर्विवाह कर सकती है किन्तु उसे यह ध्यान रखना चाहिए कि जब वह पुनर्विवाह कर रही है तो जिससे वह विवाह करना चाहती है उसे कम से कम सजातीय अथवा अपने गोत्र के समीपी गोत्र वाला होना चाहिए।

---

१. कौ०अ० , पृ० ३३५

२. वही, पृ० ३३६

कौटिल्य कालीन समाज में जहाँ एक ओर स्त्री को पुनर्विवाह करने का अधिकार था वहीं पुरुष के लिए भी कुछ स्थितियों में पुनर्विवाह का अधिकार दिया गया है। जैसे एक स्थान पर यह कहा गया है कि यदि कोई पत्नी पुत्र न उत्पन्न करती हो अथवा उसके जो सन्तान उत्पन्न होती हो, वह मृत होती होती इस स्थिति में पति एक निश्चित समय तक प्रतीक्षा करके अपना पुनर्विवाह कर सकता है और उस स्त्री का परित्याग कर सकता है जो सन्तान उत्पन्न करने में सक्षम न हो।[1] प्राचीन भारत में यह मान्यता थी कि सहज रूप में पति और पत्नी का सम्बन्ध विच्छेदित नहीं हो सकता क्योंकि यह शाश्वत् सम्बन्ध होता है। ऋषि याज्ञवल्क्य और मनु आदि भी लिखते हैं कि पति-पत्नी का सम्बन्ध ऐसा सम्बन्ध है जिसका विच्छेद सहज रूप से नहीं हो सकता।[2]

आचार्य कौटिल्य ने भी लगभग इसी मान्यता को महत्व दिया है और यह लिखा है कि जो स्त्री पति के साथ द्वेष रखती है वह तब तक तलाक प्राप्त नहीं कर सकती जब तक पति की सहमति न होवे। अर्थात् पत्नी को तभी तलाक मिल सकता है जब पति उसके लिये सहमत हो। इससे भी पति के अधिकार को बल मिलता है। यद्यपि ऐसा नियम पति के लिए भी है। वह जब पत्नी को तलाक देना चाहे तो उसकी सहमति प्राप्त कर ले। इस स्थिति में हम यह देखते हैं कि चाहे पति हो और चाहे पत्नी हो वे दोनों जब समान रूप से सहमत हों तभी तलाक देने का प्रयत्न करें क्योंकि जब तक दोनों परस्पर इसके लिये सहमत न हों तब तक उन्हें तलाक का अधिकार प्राप्त नहीं होगा।[3] इस रूप में हम यह देखते हैं कि कौटिल्य विवाह विच्छेद के सम्बन्ध में दोनों के लिए समान नियम का विधान करते हैं।

---

१. कौ०अ० , पृ० ३२४

२. म०स्मृ० ८/१०१, या स्मृ०(मिता.) १/७७

३. अमोक्ष्या भर्तुरकामस्य द्विषतीभार्या। भार्यायाश्च भर्ता। परस्परं द्वेषान् मोक्षः। कौ०अ०, पृ० ३२८

विवाह सम्बन्ध को लेकर आचार्य कौटिल्य ने यद्यपि स्त्री को पर्याप्त स्वतन्त्रता दी है तथापि कुछ ऐसे नियमों का आख्यान भी किया है जिनका उल्लंघन करने पर वह दण्ड का भागीदार हो सकती है। जैसे कि एक स्थान पर यह लिखा है कि यदि कोई स्त्री उस पुरुष से विवाह नहीं करती जो उसके पति की सम्पत्ति का अधिकारी है तो वह दण्ड की अधिकारिणी है।[१] इसका अभिप्राय यह है कि स्त्री को प्रत्येक दशा में उसी से विवाह करने का अधिकार है जो उसके पति की सम्पत्ति का उत्तराधिकारी हो सकता है। इससे इतर किसी भी अन्य पुरुष से पुनर्विवाह करने का अधिकार कौटिल्य ने स्त्रियों को नहीं दिया है।

अनेक ऐसे सन्दर्भ भी प्राचीन समय में प्राप्त हैं जिनसे यह संकेत मिलता है कि प्राचीन भारत में विधवा विवाह करने का अधिकार भी स्त्री को था। अर्थात् वह विधवा होने की दशा में तत्कालीन समाज की व्यवस्था के अनुरूप अपना पुनर्विवाह कर सकती थी। इसी के साथ ही नियोग प्रथा का प्रचलन भी प्राचीन भारतीय समाज में किया गया था जिसमें परिवार को चलाने की दृष्टि से उस स्थिति में नियोग विधि से संतान उत्पन्न की जा सकती थी जब या तो पति सन्तान उत्पन्न करने में अक्षम होता था अथवा वह जीवित नहीं होता था। यद्यपि इस प्रथा में अत्यधिक कठोरता होती थी और इस प्रथा के माध्यम से कोई पुरुष अथवा स्त्री लम्पट जीवन नहीं जी सकते थे। फिर भी इतने संकेत हैं कि तत्कालीन समाज में वंश संचालन के लिए नियोग प्रथा प्रचलित थी और इस प्रथा को तब के समाज में पर्याप्त रूप से स्वीकृति भी थी।[२] इस रूप में यही अनुभव किया जा सकता है कि आचार्य कौटिल्य एक ओर स्त्री को पर्याप्त अधिकार देते हैं दूसरी ओर वे सामाजिक संरचना में किसी प्रकार का व्यवधान न आये, इसका भी ध्यान रखते हैं।

---

१. कौ०अ० , पृ० ३३६

२. हि० ह्यू० मै०, पृ० २०६-२२०

शिक्षा तथा समाज :-

शिक्षा मनुष्य के जीवन का एक महत्वपूर्ण कारक है। शिक्षा से ही मनुष्य की पहचान होती है और शिक्षा से ही उसका स्वरूप निर्धारित होता है इसलिए प्रारम्भिक काल से ही शिक्षा के सम्बन्ध में विचार किया गया है और उसे विद्या तथा अविद्या के रूप में दो प्रकार का बताया गया है। विद्या उसे कहा गया है जो मनुष्य को अमृतत्व की उपलब्धि कराती है और अविद्या वह है जिसके बन्धन में बंधकर मनुष्य कष्ट भोगता है। प्रारम्भ में यह कहा गया कि मनुष्य जीवन के कुछ लक्ष्य हैं और वे हैं धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के रूप में चारों पुरुषार्थों की प्राप्ति करना। शिक्षा के सन्दर्भ में जब विचार किया गया तो यह कहा गया कि शिक्षा से ही व्यक्ति सहजता से इन पुरुषार्थों की प्राप्ति कर सकता है किन्तु शिक्षा के द्वारा व्यक्ति के जीवन में संस्कार दिए जाने चाहिए। यदि शिक्षा से व्यक्ति संस्कार प्राप्त नहीं करेगा तो शिक्षा भी फलवती नहीं होगी। जब व्यक्ति में संस्कार नहीं होते हैं तो वह अविद्या से ग्रसित होकर पाप का भागीदार होने लगता है और यही उसका रास्ता उसे पतन की ओर ले जाता है इसलिए अविद्या घातक प्रवृत्ति है और वह व्यक्ति को क्षरित करती है। विद्या वह है जो उसे क्षरण से रोकती है और जिससे व्यक्ति पतनोन्मुख प्रवृत्तियों से बचता है।

प्राचीन समय में शिक्षा के लिये तीन प्राप्ति स्थानों पर विचार किया गया है। पहली शिक्षा वह है जो बालक को माता से प्राप्त होती है और जिससे वह संस्कारित होता है। दूसरी शिक्षा वह है जो व्यक्ति को आचरण देती है और उसे संस्कारित भी बनाती है, यह पिता से प्राप्त होती है। तीसरी शिक्षा आचार्य से प्राप्त होने वाली शिक्षा है जो व्यक्ति को ज्ञान की आभा से भर देती है और जिसे पाकर व्यक्ति ज्ञान से परिपूर्ण होकर न केवल अपना जीवन विधिपूर्वक संचालित करता है अपितु समाज के लिए भी ऐसा व्यक्ति एक श्रेष्ठ पुरुष होता है।

वैदिक काल में शिक्षा में मुख्य रूप से वेदों के अध्ययन-अध्यापन की परम्परा थी। इसी परम्परा का पालन करते हुए तब मुख्य रूप से वेद पढ़ाये जाते थे। बाद में वेदाङ्गों के साथ-साथ अन्य विषयों का प्रचलन भी हुआ और वे शिक्षा में सम्मिलित किये गये। इन विषयों में अनुशासन, वाक्योवाक्, इतिहास-पुराण तथा गाथा आदि का उल्लेख है।[१] इन विषयों के जो परिचय दिए गए हैं उनमें यह कहा गया है कि अनुशासन वेदाङ्ग है, विद्या दर्शन है, वाकोवाक्य शास्त्रार्थ के सदृश है। इतिहास और पुराणों में पराक्रमी वीरों तथा देव ऋषियों की गाथा का वर्णन है। गाथा में महापुरुषों की स्थितियों का निबन्धन है।[२]

उपनिषद् परम्परा में जब शिक्षा विषयक संकेत किये गये तो वहाँ पर यह कहा गया कि शिक्षा का तात्पर्य विद्या से है। आचार्य शङ्कर ने इसके लिए शिक्षा के रूप में वर्ण उच्चारण की परम्परा का कथन किया है।[३] उपनिषदों में स्वयं यह कहा गया है कि शिक्षा में दम, दया और दान का विकास होता है।[४]

उपनिषदों में यह भी कहा गया है कि व्यक्ति को स्वयं से भी शिक्षा से विमुख नहीं करना चाहिए अर्थात् उसे निरन्तर शिक्षा प्राप्ति की ओर लगे रहना चाहिए, इसीलिए वहाँ पर स्वाध्याय और प्रवचन में निरन्तर लगे रहने का संकेत है। इसके साथ ही वहाँ पर यह संकेत भी है कि तब शिक्षा से व्यक्ति को आत्म साक्षात्कार होता था।

---

१. अथर्व० १५/६/११-१२, श०ब्रा० ११/५/६/८

२. प्रा०भा० स० सां० , पृ० १४८

३. तै०उ० १/२/१ पर शांकर भाष्य

४. वृ० उ० ५/२/३

आचार्य कौटिल्य ने भी अपने ग्रन्थ में तत्कालीन समाज की शिक्षा व्यवस्था पर विचार किया है। वे प्रारम्भ में अपने से पूर्व उत्पन्न हुए आचार्यों के मतों का प्रतिपादन करते हैं और फिर अपनां सिद्धान्त देते हैं। आचार्य कौटिल्य ने लिखा है कि त्रयी वार्ता और दण्डनीति को विद्या मानना मनु के दृष्टिकोण से प्रचलित है। वे कहते हैं कि आचार्य मनु ने आन्वीक्षकी विद्या को त्रयी विद्या में ही समाविष्ट मान लिया है। इसी तरह से वृहस्पति वार्ता और दण्डनीति को ही विद्या मानते हैं तथा अन्य विद्याओं का समावेश इन्हीं के अन्तर्गत करते हैं। शुक्राचार्य ने केवल दण्डनीति को ही विद्या माना है।

आचार्य कौटिल्य ने यह कहा है कि विद्या वह है जो धर्म के साधन में उपकारी हो, किन्तु अधर्म के साधन में जिसका सहयोग न हो। वे यह लिखते हैं कि विद्या वह है जो मनुष्य मात्र के हित का सम्पादन करती है और किसी के भी अहित में साधन नहीं बनती। इसका अभिप्राय यह है कि आचार्य कौटिल्य ऐसी विद्या का निरूपण करना चाहते हैं जो मनुष्य के लिए हित करने वाली हो और जिससे सभी का कल्याण जुड़ा हो।[१] यहाँ यह भी ध्यान देने योग्य है कि आचार्य कौटिल्य जब धर्म की व्याख्या करते हैं तो वे उसे मनुष्य के कर्तव्य के रूप में देखते हैं चाहे वह वर्णों के कर्तव्यों के रूप में हो और चाहे आश्रमों के कर्तव्य के रूप में हो ।[२]

---

१. चतस्त्रः एव विद्या इति कौटिल्यः। ताभिरर्थधर्मार्थौ यद् विद्या तद् विद्यानां विद्यात्वम्।। कौ०अ० , पृ० १०

२. वही, पृ० १२

आचार्य अपनी विद्याओं का व्याख्यान करते हुए विद्याओं के दो रूप बताते हैं। विद्या का एक रूप विनय का रूप है और दूसरा रूप कृतक रूप है। विद्या का विनय रूप वह है जिसमें व्यक्ति स्वाभाविक रूप से विनयी होता है और सुपात्र होता है। विद्या का कृतक रूप वह है जिसमें व्यक्ति विद्या ग्रहण करके अपनी बनावट को प्रकाशित करता है और सुपात्रता दिखाता है। कौटिल्य जिन भी सिद्धान्तों का निरूपण करते हैं उन्हें वे पहले राजा में लागू करना चाहते हैं इसलिए वे लिखते हैं कि अक्षर ज्ञान के बाद राजा सन्धि, विग्रह, यान, आसन और द्वैधी भाव की शिक्षा प्राप्त करें। तत्पश्चात् उसे दण्डनीति की शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए।[१]

कौटिल्य ने यह भी अभिमत दिया है कि शिक्षा सुपात्र व्यक्ति को ही योग्य बनाती है, अपात्र व्यक्ति को वह योग्यता प्रदान नहीं करती। विद्या प्राप्ति से वही योग्य हो सकते हैं जो शुश्रूषा, श्रवण, ग्रहण, धारण विज्ञान और विवेक बुद्धि से काम लेते हैं।[२]

कौटिल्य ने विद्या की महत्ता को अतिशय रूप में स्वीकार किया है और यह कहा है कि विद्या के ज्ञान से मनुष्य का व्यक्तित्व दिव्य हो जाता है। ज्ञान की प्राप्ति से कोई भी व्यक्ति देवत्व प्राप्त कर लेता है और समाज में आदर का पात्र बन जाता है। विद्वान् के लिए यहाँ तक कहा गया है कि वह देव स्वरूप वाला होता है।[३]

---

१. कौ० अ० , पृ० १६

२. वही, पृ० १८

३. विद्वांसो हि देवाः। श०ब्रा० ३/७/३/१०

शिक्षा की व्यवस्था सामान्य जन के लिए किस प्रकार से हो और राष्ट्र हित में उस सामान्य जन का तथा उसके ज्ञान का किस प्रकार उपयोग किया जाये इसका विचार सदा से ही होता रहा है। प्राचीन भारत में राजाओं के हाथ में सभी शक्तियां निहित थीं इसलिए वे इस प्रकार के आयोजन करते थे जिसमें अनेक परिषदें अपनी विचार परम्परा से शिक्षा के विविध स्वरूप पर चर्चा करती थीं। राजा अपने दरबार में विद्वानों को महत्व देते थे और उन विद्वानों के द्वारा जिस ज्ञान का प्रकाश होता था वह ज्ञान समाज में सभी के लिए हितकारी होता था। उस समय के शिक्षा के स्वरूप में गुरुकुलों का अथवा वन में अवस्थित आश्रमों का बहुत अधिक महत्व था। राजा के राज्यों में पर्याप्त मात्रा में गुरुकुल अवस्थित होते थे और वे शिक्षा की व्यवस्था करते थे। इनमें राज्य का हस्तक्षेप नहीं होता था और जो पाठ्यक्रम वहाँ दिए जाते थे उनका निर्धारण गुरुकुल से किया जाता था।[१]

विद्या प्राप्त करने का अधिकारी कौन है और किसे विद्या दी जाये इसका विचार करते हुए यह संकेत है कि जो सत्य वादी हो, श्रेष्ठ आचरण वाला हो वही विद्या प्राप्त करने का अधिकारी है। इस सम्बन्ध में सत्यकाम का उदाहरण दिया जा सकता है जो पिता का नाम नहीं जानता था किन्तु आश्रम में आचार्य के समक्ष अपनी माता के परिचय से ही अपना परिचय देता है किन्तु असत्य का आश्रय नहीं लेता। आचार्य उसे शिक्षा देने में कोई संकोच नहीं करते और उसे उत्तम शिक्षार्थी भी घोषित करते हैं।[२]

---

१. उ०स० सं०, पृ० २६५-२६६

२. कठ् (प्रथम बल्ली) २०-२६

आचार्य कौटिल्य ने शिक्षा व्यवस्था के सम्बन्ध में विचार किया है और मुख्य रूप से उसे राजाओं के सन्दर्भ में कहा है। वे यह लिखते हैं कि राजा अपने लिए निर्धारित नियमों का पालन करता हुआ दृढ़ता पूर्वक राज्य करे और प्रजा को संयमी बना कर उस पर भी अपना नियन्त्रण रखे। इसके लिए वह शिक्षा की सम्पूर्ण व्यवस्था करे, शिक्षा का प्रचार-प्रसार करे, प्रजा को शिक्षित और विनम्र बनायें।[१] कौटिल्य ने सभी के लिए समान रूप से शिक्षा प्राप्ति की योजना का निरूपण किया है। वे शिक्षा को विनय का आधार मानते हैं इसलिए सभी को शिक्षा प्राप्त करनी चाहिए ऐसा निर्देश भी करते हैं। शिक्षा प्राप्ति का अधिकार सभी को है उनका यह मन्तव्य इस रूप में प्रकट होता है, जब वे लिखते हैं कि गणिकाओं के लिए शिक्षा आवश्यक है ओर उन्हें शिक्षा देने के लिए आचार्यों की नियुक्ति की जानी चाहिए। वे राजा के लिए निर्देश भी करते हैं कि गणिताध्यक्षा को निर्देश करें कि वह गणिकाओं के लिए गाना, बजाना, नृत्य करना, चित्रकारी करना, मृदंग बजाना तथा अन्य कलाओं की शिक्षा देने की व्यवस्था करें।[२] इस तरह से जब कौटिल्य समाज की उपेक्षित गणिकाओं जैसी स्त्रियों के लिए शिक्षा की व्यवस्था करते हैं तो वे इसी माध्यम से यह दृष्टिकोण भी प्रस्तुत करते हैं कि समाज में शिक्षा प्राप्ति का अधिकार सभी को है। इसका कारण यह है कि शिक्षा जहाँ एक ओर व्यक्ति को विनयी बनाती है वहीं दूसरी ओर उसके व्यक्तित्व का सर्वाङ्गीण विकास करती है। इसी दृष्टि से शिक्षा का महत्व भी है।

---

१. कौ० अ० , पृ० २३
२. वही, पृ० २५६

शिक्षा और समाज परस्पर सापेक्ष हैं। अर्थात् शिक्षा के बिना सुसंस्कृत समाज की कल्पना नहीं की जा सकती और जब तक समाज सुसंस्कृत नहीं होगा तब तक भली प्रकार से प्रतिष्ठित नहीं होगा। इसलिए समाज को दृष्टि में रखकर शिक्षाचार्यों ने प्रारम्भ से ही शिक्षा व्यवस्था पर विचार किया है और राष्ट्र नायकों के लिए यह संकेत किया है कि वे सभी के लिए समान शिक्षा की नीति लागू करें।

प्राचीन समय में ही शिक्षा को व्यक्ति के उन्नयन का आधार कहा जाता रहा है। इसलिए उपनिषदें यह कहती रहीं हैं कि व्यक्ति सदा ही स्वाध्याय और प्रवचन के द्वारा स्वयं को संस्कारित करता रहे।[१] इसी भाव को इन शब्दों में भी व्यक्त किया गया है जिसमें यह कहा गया है कि प्रत्येक गृहस्थ के घर में पुत्र अथवा पुत्री पण्डित होवें। अर्थात् यह गृहस्थ की पूर्णता है कि उसके घर में उत्पन्न हुआ पुत्र अथवा पुत्री पाण्डित्य गुण से परिपूर्ण हों।[२]

शिक्षा के प्रति और अन्तिम लक्ष्य के प्रति प्राचीन भारत में जो अभिलाषा थी उसे हम नचिकेता के आख्यान से जान सकते हैं। नचिकेता परम सत्य को जानने के लिए यम के पास पहुँचता है और उससे यह प्रार्थना करता है कि वे उसे परम सत्ता के स्वरूप का दर्शन करायें। इसके अतिरिक्त वह और कुछ भी प्राप्त करना नहीं चाहता क्योंकि संसार की अन्य कोई भी वस्तु परम श्रेय की प्राप्ति में सहायक नहीं होती। परम श्रेय ही शिक्षा का अन्तिम लक्ष्य भी है।[३]

---

१. तै० उ० १/९/१
२. वृ० उ० ६/४/१७-१८
३. कठ् १/१/१०

समाज का सम्पूर्ण विकास हो और उसमें समाज का कोई भी वर्ग शिक्षा से वंचित न रह जाये इसलिए तब स्त्रियों को भी शिक्षित करने का विधान था। कौटिल्य कालिक समाज में यद्यपि राजाओं के लिए विशेष वर्णन किया गया है और यह कहा गया है कि राजा राजनीति तथा शैन्य विषयों के अध्ययन में दक्ष होवें किन्तु इसके अतिरिक्त जो अन्य लोग हैं वे भी ऐसे विषयों का अध्ययन करें जिससे उनका जीवन ठीक से चल सके। इस रूप में जहाँ शिक्षा परम श्रेय की प्राप्ति के लिए साधन रूप है वहीं शिक्षा तब जीविका के लिए भी साधन स्वरूप थी।

एक विद्वान् का यह मत है कि तब के समाज में शिक्षा के द्वारा ज्ञान प्राप्त करने के साथ-साथ सद्आचरण पर भी बल दिया जाता था। तब यह कल्पना की जाती थी कि व्यक्ति जहाँ एक ओर शिक्षा के द्वारा अपने लिए परम कल्याण की प्राप्ति करे वहीं दूसरी ओर वह शिक्षा के माध्यम से अपनी जीविका का साधन भी प्राप्त करे।

क्योंकि बिना चारित्रिक विकास के व्यक्ति सम्पूर्ण नहीं होता और केवल आर्थिक प्राप्ति से वह संतृप्त भी नहीं होता इसलिये प्राचीन समाज में शिक्षा के माध्यम से चारित्रिक विकास को प्राप्त करने का निर्देश दिया गया है। वैदिक समाज तथा वेदोत्तर कालीन समाज के साथ-साथ कौटिल्य कालिक समाज में भी शिक्षण विषयों में उन विषयों को स्वीकार किया गया था जिन विषयों के माध्यम से जहाँ व्यक्ति एक ओर अपनी भौतिक उन्नति प्राप्त करता है वहीं दूसरी ओर वह अपने लिए परम श्रेय को भी प्राप्त कर सकता है। तब ऐसा इसलिए किया गया था क्योंकि कोई भी व्यक्ति परिपूर्ण तभी होता है जब वह भौतिक उन्नति के साथ-साथ आत्मिक उन्नति भी प्राप्त कर लेता है।

व्यापार का स्वरूप : –

यह अनुमान करना सहज और स्वाभाभिक है कि प्रारम्भ से ही वस्तुओं का परस्पर आदान-प्रदान करना सामाजिक प्रचलन में रहा होगा। व्यक्ति समाज बनाकर रहता है और सामाजिक संरचना में परस्पर व्यवहार करना सहज होता है। इसी सहजता में वह अपनी आवश्यकता के अनुरूप कोई वस्तु किसी से लेता है और उसी आवश्यकता के अनुरूप ही अपनी वस्तु किसी को प्रदान करता है। ऐसा जब विनिमय के रूप में होने लगता है तब व्यापार का स्वरूप बन जाता है। जिन विद्वानों ने सामाजिक स्वरूप में व्यापार के सामाजिक स्वरूप पर विचार किया है वे यह लिखते हैं कि प्रारम्भ में अस्त्र-शस्त्रों, खाद्य पदार्थों, पात्रों और वस्त्रों से परस्पर आदान-प्रदान प्रारम्भ हुआ होगा किन्तु बाद में इस क्रम में अन्य अनेक वस्तुयें सम्मिलित हो गयीं और तब व्यापार न केवल देश के अन्दर रह गया अपितु यह विदेशों तक फैल गया।[१]

आचार्य कौटिल्य ने व्यापार के सन्दर्भ में जो संकेत दिए हैं उनके अनुसार यह अनुमान होता है कि उस समय व्यापार का सम्पूर्ण कार्य राज्य के अधीन हुआ करता था। अर्थात् समाज में जिस रूप में व्यापार होता था उसकी देख-रेख करने के लिए राज्य की ओर से एक व्यापार का अधिकारी नियुक्त किया जाता था जिसे संस्थाध्यक्ष के रूप में कहा गया। उसके कर्तव्यों में यह उल्लेख है कि वह अन्न आदि के व्यापार का तथा इसके आयात-निर्यात का समुचित प्रबन्ध करे और तराजू, बाँट तथा माप के बर्तनों का निरीक्षण करता रहे जिससे नाप तौल में गड़बड़ी न होने पावे।[२] इस व्यवस्था से तब कौटिल्य यह चाहते थे कि व्यापार की व्यवस्था समुचित रूप से बनी रहे और प्रजा किसी प्रकार से कष्ट न पावे।

---

१. प्रा० भा० सा० सां० भू० , पृ० ७४७

२. कौ० अ०, पृ० ४२८

कौटिल्य ने संस्थाध्यक्ष के कार्यों में यह भी निरूपित किया है कि वह अपने देश में निर्मित होने वाली और बाहर से आयातित होने वाली वस्तुओं के मूल्य निर्धारण में वह यह ध्यान रखें कि इसमें कर्मचारियों के वेतन अन्य भाड़ा तथा ब्याज आदि का खर्चा ठीक से निकल आवे। ऐसा करते समय न राज्य को किसी प्रकार की हानि हो और न ही प्रजा किसी प्रकार से हानि की अधिकारी बने।[१]

कौटिल्य ने व्यापार के लिए एक और अधिकारी की नियुक्ति की है जिसे पणाध्यक्ष कहा गया। उसका कार्य था कि वह स्थल मार्ग से तथा जल मार्ग से बिक्री के लिये आयी हुई वस्तुओं की जानकारी करता था। जिस वस्तु की जितनी मांग होती थी उसके आधार पर उसका मूल्य तय करता था। उसके लिए कौटिल्य का यह निर्देश है कि पणा-ध्यक्ष यह देखें कि निर्यात करने वाली वस्तुओं में और आयात करने वाली वस्तुओं के मूल्य में कितना अन्तर है। उस अन्तर को देख कर वह मूल्य का निर्धारण करे। जो वस्तु निर्यात किये जाने पर उचित मूल्य न दे रही हो अवसर की प्रतीक्षा में उसे सुरक्षित रखें।[२]

आचार्य कौटिल्य ने व्यापार के लिए प्रयुक्त की जाने वाली वस्तुओं पर शुल्क लेने का विधान किया है। इसके लिये एक शुल्काध्यक्ष की नियुक्ति का प्रावधान वे करते हैं। यद्यपि उन्होंने अन्न, पशु की गणना के साथ शस्त्र, कवच, लोहा, रथ, रत्न आदि का उल्लेख किया है और इन पर भी व्यापारिक शुल्क लेने का प्रावधान किया है तथापि वे यह लिखते हैं कि इनका व्यापार राज्य के हित को ध्यान में रखकर किया जाना चाहिए।[३]

---

१. कौ० अ० , पृ० ४३३

२. वही, पृ० २०३

३. वही पृ० २३०

काटल्य ने व्यापारिक व्यवस्था के अन्तर्गत समाज के हित का सर्वोपरि ध्यान रखा है और संकेत किया है कि कोई भी सामान जिससे प्रजा का उपकार होता है और वह सामान कठिनाई से प्राप्त होता है तो उस पर किसी भी प्रकार से चुंगी न लगायी जाए। इसी तरह से वे लिखते हैं कि जिस वस्तु का आयात-निर्यात शासन द्वारा किया जा रहा है शासन ने उसकी बिक्री का मूल्य निर्धारण कर दिया है तब यदि कोई व्यक्ति इसमें हेरा फेरी करता है अथवा अपने सामान के विषय में असत्य घोषणा करता है तो वह दण्ड का भागीदार बनता है। अर्थात् ऐसे व्यक्ति को राज्य के द्वारा समुचित दण्ड दिया जाना चाहिए।[१] इस सन्दर्भ में यहाँ पर यह कहा जा सकता है कि हम यदि प्राचीन भारत की अथवा कौटिल्य कालिक समाज की व्यापारिक अवस्था का विशेष विवरण जानना चाहें तो हमें ऐसे संकेत मिलते हैं कि उस समय भी भारत का व्यापारिक क्षेत्र विस्तृत था। इस देश का व्यापार केवल अपने देश तक ही सीमित नहीं था अपितु बाहर विदेशों में इस देश के व्यापारिक सम्बन्ध थे। व्यापार के सम्बन्ध में गुप्त कालीन जो संकेत प्राप्त होते हैं उनके अनुसार भी यह कहा जाता है कि उस समय के काल में एशिया के पूर्वीय द्वीप समूह से भारत के व्यापारिक सम्बन्ध थे। इन द्वीपों से भारत में मोती, सोना, चाँदी, सुपारी, चमड़ा, कपूर, चन्दन इलायची, मसाले आदि आते थे।[२] अरब क्षेत्र से भी भारत के व्यापारिक सम्बन्धों का संकेत इतिहासकारों ने किया है। इसमें यह कहा गया है कि अरब देशों से जो व्यापारी आते थे वे भारतीय वस्तुओं को लेकर पश्चिमी देशों में और पूर्वी देशों में जाते थे। उस समय भारत से काला नमक और कस्तूरी मृग का निर्यात् भी होता था।[३] इस रूप में और भी संकेत हैं जिनमें रोम से रेशमी कपड़े, पोस्तीन और तलवारें भारत आतीं थीं और यहाँ पर बिकती थीं। इसके साथ ही ईरान से गुलाबजल यहाँ आयात होता था तथा अरबी घोड़ों को भी विशेष रूप से क्रय किया जाता था।[४]

---

१. कौ०अ० , पृ० २२६

२. प्रा० भा० सा० सां० भू०, पृ० ७५४

३. अव भा० सं०, पृ० ६६

४. वही, पृ० ६८

व्यापार और समाज :-

कौटिल्य ने अपना यह अभिमत व्यक्त किया है कि राजा का अस्तित्व प्रजा के लिये है इसलिये राजा का हित भी प्रजा के हित में सुरक्षित है। अर्थात् प्रजा का हित यदि है और उसे राजा कुशलता पूर्वक सम्पादित करता रहता है तो राजा का हित स्वतः ही सम्पादित होता रहता है। ऐसा इसलिए है क्योंकि राजा प्रजा के लिए होता है ओर राजा का राजत्व प्रजा पर ही निर्भर करता है।[१] आचार्य कौटिल्य ने व्यापारिक व्यवस्था का विचार करते समय भी इस तथ्य को ध्यान में रखा है कि राजा चाहे जिस प्रकार के व्यापार की व्यवस्था करे उसे यह ध्यान हर समय रखना चाहिए कि उसकी व्यवस्था से प्रजा को किसी प्रकार से कष्ट न पहुंचे। इसलिए जब वे व्यापार की व्यवस्था का निर्धारण करने का संकेत करते हैं तो राजा के लिए यह निर्देश करते हैं कि वह बाजार और व्यापार देखने के लिए अध्यक्ष की नियुक्ति करे। वह अध्यक्ष माप-तौल के साथ-साथ तराजू आदि का निरीक्षण समय-समय पर करता रहे जिससे व्यापारी स्वतन्त्र न हो सके और न ही ऐसा आचरण कर सके जिससे प्रजा को किसी प्रकार का कष्ट हो।[२]

कौटिल्य ने व्यापार करने वाले व्यापारियों के लिए जो निर्देश किया है उसके अनुरूप वे व्यापारियों के द्वारा किए जाने वाले इतने कार्य को पर्याप्त नहीं मानते कि वह उचित मात्रा में तौल करके ग्राहक को सामान दें। आचार्य कौटिल्य ने इस सन्दर्भ में यह लिखा है कि उसे उचित मात्रा में तौल करके सामान तो देना ही चाहिए इसके साथ ही उसका यह कर्तव्य भी है कि उसके द्वारा दिया गया सामान घटिया न हो और यदि वह घटिया माल को अच्छा कह कर ग्राहक को बेचता है तो ऐसा करने पर वह राज्य के द्वारा दण्ड प्राप्त करने का अधिकारी होता है।[३]

---

१. प्रजासुखे सुखं राज्ञः प्रजानां च हिते हितम्।
नात्मप्रियं हितं राज्ञः प्रजानां तु त्रयं हितम्।। कौ०अ०, पृ० ७७

२. वही , पृ० ४२९

३. वही, पृ० ४३०

कौटिल्य ने व्यापारियों के लिए यह निर्देश भी किया है कि किसी सामान की मांग होने पर वे उस सामान को रोकें नहीं और अनुचित रूप से उसका भण्डारण न करें। जो ऐसा करता है इसका अर्थ यह है कि वह समय के अनुसार ग्राहक को उचित सामान नहीं देता और उस समय उसका भण्डारण करके उसका अधिक मूल्य प्राप्त करता है। इससे ग्राहक को कष्ट होता है और आर्थिक क्षति होती है। इस सन्दर्भ में भी कौटिल्य का यह कथन है कि जो व्यापारी ऐसा करे उसे उचित मात्रा में दण्ड दिया जाना चाहिए।[१]

कौटिल्य ने उन वस्तुओं की गणना की है जो वस्तुयें प्रजा के लिए आवश्यक हैं और जिन वस्तुओं की आवश्यकता प्रजा को दैनिक रूप से पड़ती हैं। इसमें अन्न, तेल, नमक और दवाईयां सम्मिलित हैं। इन से व्यक्ति का दैनिक व्यवहार चलता है और इनकी अनुपलब्धता से व्यक्ति को कष्ट होता है इसलिए कौटिलय ने यह निर्देश किया है कि राजा को इस प्रकार की व्यवस्था करनी चाहिए जिससे प्रजा को अन्न, तेल, नमक और दवाईयां मिलती रहें तथा सामान्य जन इनके अभाव से कष्ट का अनुभव न करे। कौटिल्य का यह निर्देश है कि यदि व्यापारी इन वस्तुओं की उपलब्धता में बाधक बनता है तो उसे यथोचित दण्ड देना चाहिए, जिससे प्रजा कष्ट की भागीदार न बनें।

आचार्य कौटिल्य ने इस व्यवस्था के सन्दर्भ में यह कहा है कि इसके लिये राजा को चाहिए कि वह स्वयं भी कभी-कभी बाजार से कुछ खरीददारी करे। इससे उसे यह ज्ञात रहेगा कि वस्तुओं का विवरण समुचित रूप से हो रहा है अथवा नहीं और उसे यह भी ज्ञात रहेगा कि जो व्यापारी व्यापार कर रहे हैं वे अपनी वस्तुओं का मूल्य उचित मात्रा में ले रहे हैं अथवा नहीं। राजा के ऐसा किये जाने पर व्यापारी हर समय सचेष्ट रहेंगे और वे कभी भी व्यापार के मार्ग में अवरोध पैदा नहीं करेंगे।

---

१. कौ०अ० , पृ० ४३१

समीक्षा तथा निष्कर्ष :-

प्राचीन भारत में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष को सभी ने पुरुषार्थ चतुष्टय के रूप में स्वीकार किया है। इन पुरुषार्थों में अर्थ ऐसा है जो धर्म और काम का मूल हेतु है। अर्थ के बिना धार्मिक कार्य करना और काम की पूर्ति करना सम्भव नहीं होता इसलिए अर्थ महत्वपूर्ण है और किसी किसी आचार्य ने अर्थ को ही एक मात्र पुरुषार्थ माना है। आचार्य कौटिल्य ने भी अर्थ को महत्व पूर्ण पुरुषार्थ के रूप में स्वीकार किया है और अपने इस ग्रन्थ का नाम ही अर्थशास्त्र किया है। वे अपने इस ग्रन्थ में सामाजिक संरचना के सभी कारकों पर विचार करते हैं जिसमें वर्णाश्रम व्यवस्था पारिवारिक व्यवस्था के आधार पर सभी के अधिकारों तथा परिवार के सदस्यों के दाय भाग का विचार किया गया है। इस सम्बन्ध में आचार्य कौटिल्य ने विचार-पूर्वक दाम्पत्य सम्बन्धों पर अपनी विवेचना प्रस्तुत की है और परिवार को जोड़े रखने के सूत्रों का संकेत किया है। इसी दृष्टि से वे पुरुषों के अधिकार के साथ-साथ स्त्रियों को भी उचित अधिकार देने का निर्देश करते हैं, जिससे पारिवारिक संरचना में किसी प्रकार की क्षति न हो।

इसी तरह से आचार्य कौटिल्य ने शिक्षा और व्यापार को सामाजिक संरचना के लिए महत्वपूर्ण कारक माना है और यह लिखा है कि शिक्षा मनुष्य के व्यक्तित्व का निर्माण करती हुई उसकी जीविका की सहायक बनें इसलिए वे शास्त्र ज्ञान के साथ-साथ कृषि, वाणिज्य और शिल्प को भी शिक्षा का अंग मानते हैं। इसी तरह से वे व्यापार को उसी रूप में संचालित होता हुआ देखना चाहते हैं जिस रूप में प्रजा को किसी तरह का कष्ट न हो। इन सभी बिन्दुओं पर आचार्य कौटिल्य ने सम्यक् विचार किया है और ऐसे संकेत किए हैं जिससे सुदृढ़ समाज का संगठन खड़ा हो सके।
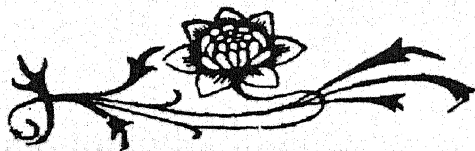
तृतीय

अध्याय

तृतीय अध्याय

प्राचीन भारत में राजनीति

वैदिक कालीन राजा तथा राज्य, राजा की वैधानिक शक्ति, राजा का कार्य व्यवहार राजा और राजपुत्र, स्मृतियों में राजा की अवधारणा, मन्त्री और उसकी अवधारणा मन्त्रि परिषद् का स्वरूप, राज्य एवं राष्ट्र राज्य और राष्ट्र में साम्य वैषम्य।

तृतीय अध्याय

प्राचीन भारत में राजनीति
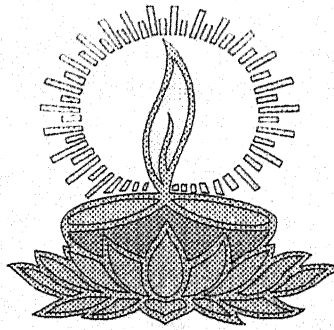
तृताय अध्याय
(प्राचीन भारत में राजनीति)

वैदिक कालीन राजा तथा राज्य :-

संस्कृत व्याकरण में राजा शब्द की सिद्धि जिस प्रकार से की गई है उसमें राज्रि धातु से कनिन् प्रत्यय होने पर यह शब्द सिद्ध होता है।[1] इस सिद्धि के माध्यम से राजते, शोभते इति राजा- ऐसा आख्यान किया जाता है और इससे यह अभिप्राय लिया जाता है कि जो व्यक्ति शोभा सम्पन्न होता है वह राज पद से सम्बोधित हो सकता है। एक दूसरे स्थान पर यह संदर्भ आया है जिसमें कहा गया है कि जो रञ्जन करता है अर्थात् प्रजा के रञ्जन में हेतु होता है वह राजा होता है।[2] क्योंकि राजा ही प्रजा पर शासन करता है, इसलिये वह राजा है।

अन्य संदर्भ ऐसे हैं जिनमें राजा शब्द को लेकर विचार किया गया है और यह कहा गया है कि प्रजा के लिये राजा ही पितृवत होता है इसलिये राजा प्रजा का पालन उसी प्रकार से करता है जैसे कोई एक पिता अपने पुत्रों का पालन करता है। जब वह इस प्रकार से प्रजा का पालन करता है तो उसका यही पालन स्वभाव उसके द्वारा किये जाने वाला अनुरञ्जन है। उसकी इसी क्रिया से उसे शोभा मिलती है और वह राजा कहा जाता है।[3] एक पौराणिक संदर्भ में राजा पृथु के प्रजा पालन की वृत्ति का निरूपण करते हुए यह कहा गया है कि उस राजा के लिये पिता पुत्रवत् थी इसीलिए ऐसा कभी नहीं हुआ कि राजा पृथु ने अपनी प्रजा का पालन पुत्रों की भाँति न किया हो।[4]

---

१. सि०कौ०(उणादि प्रकरण) १/१५४
२. सं. श. कौ०, पृ० ६७३, वाचस्यत्यम् (भा० ६), पृ० ४८०२
३. वि०उ० (१) अ० १३
४. प. पु. भूखण्ड, अ० २६

राजा शब्द को लेकर और इस शब्द के अभिप्राय को लेकर अन्य जो भी सन्दर्भ मिलते हैं उन सब के विषय में यह कहा जाता है कि राजा प्रजा के लिए ईश्वरवत है, वह प्रजा का पालन क़रने वाला है इसलिए पालक है, वह पृथिवी का अधीश्वर है और मनुष्यों का स्वामी है इसलिए वह मनुष्यों के लिए इन्द्र जैसा है। इस रूप में राजा शब्द के जो भी पर्याय दिये गये हैं उनमें नृपतिः, भूपतिः, भूपाल, महीपतिः, नरेश्वर, नरेन्द्र, अवनीश तथा क्षितीश सम्मिलित हैं।[१]

प्राचीन भारतीय वाङ्मय में राजा शब्द को लेकर और राजा की प्रजा पालन विधि को लेकर अनेक सन्दर्भ दिए गए हैं जैसे कि ऋग्वेद में एक सन्दर्भ इस प्रकार का दिया गया है जिसमें यह कहा गया है कि राजा त्रसदस्यु में अपने सम्बन्ध में यह कहा कि मैं प्रजा का राजा हूँ। मैं वरुण हूँ, देवताओं ने मुझे असुरों का संहार करने वाली शक्तियाँ प्रदान की हैं इसलिए मैं शक्ति सम्पन्न हूँ और उनका संहार करता हूँ।[२] इसी प्रकार का एक सन्दर्भ यह भी है जिसमें यह कहा गया है कि राजा एक ऐसी शक्ति का प्रतीक है जिसके द्वारा मनुष्य विधृत होते हैं।[३] इसका अभिप्राय यह है कि राजा मनुष्यों के योगक्षेम को भली प्रकार धारण करता है।

एक उदाहरण से यह ज्ञात होता है कि राजा की शोभा तभी होती है जब वह प्रजा के अभ्युदय के लिए कार्य करता रहे।[४]

---

१. इ. सं. डि. , पृ० ४२७
२. ऋक् ४/४२/६
३. तै. सं. २/६/२/२
४. श. ब्रा. ५/४/४/१४

इस रूप में जो राजा प्रजा की सुरक्षा के लिए कार्य नहीं करता वह शोभा प्राप्ति का अधिकारी नहीं होता। राजा की शोभा और उसके राज्य का कौशल तभी प्रकट होता है जब राजा के जीवन के विकास के लिए और उसकी सुरक्षा के लिए कार्य करता रहे। एक ऐसा सन्दर्भ भी दिया गया है जिसमें यह कहा गया कि राजा प्रजा की रक्षा का हेतु होता है। वहाँ पर प्रजा के रूप में ब्राह्मण का नाम लिया गया है और आचरण के रूप में धर्म का संकेत किया गया है। ऐतरेय ब्राह्मण में इन्द्र के अभिषेक के समय ऐसी कल्पना की गई है जिसमें इन्द्र को ब्राह्मण गोप्ता और धर्म गोप्ता कहा गया है।[१]

वेद के एक अन्य सन्दर्भ में यह देखने को मिलता है कि प्राचीन समय में जब राजा का राज्याभिषेक किया जाता था तब यह कहा जाता था कि यह राष्ट्र पुनीत थाती के रूप में तुम्हें सौंपा जा रहा है। इसकी रक्षा करना तुम्हारा पुनीत कर्तव्य है। इसके संचालन के लिए इसके नियमन के लिए तुम उत्तरदायी हो। इस राज्य का संचालन ठीक-ठीक हो और इसमें नियमों का विधान भी भली प्रकार होता रहे यह तुम्हारा उत्तरदायित्व है। यह राज्य तुम्हें कृषि के कल्याण के लिए, प्रजा के पोषण के लिए और प्रजा की सम्पन्नता के लिए दिया जा रहा है। इसलिए इस राज्य को प्राप्त करके तुम कृषि का विस्तार करो और जिससे सभी प्रकार से प्रजा का कल्याण होता रहे।[२]

---

१. ऐ० ब्रा० ८/१२
२. शु० य० वे० ६/२२

वैदिक वाङ्मय में और अनेक उदाहरण ऐसे हैं जिनमें राजा के स्वरूप और उसके कार्य तथा अधिकार के विषय में अनेक सन्दर्भ दिए गए हैं। ऋग्वेद में यह कहा गया है कि राजा का जीवन शोभार्थक होता है अर्थात् उसका जीवन तभी सार्थक है जब वह प्रजा के लिए कल्याण के कार्य करता है और अपने शासन से सभी को सौभाग्यशाली बनाता है।[१]

वृहदारण्यक उपनिषद् में यह कहा गया है कि ब्रह्म से क्षत्र की उत्तपति हुई जिसमें ब्रह्म श्रेष्ठ है जो ब्राह्मणों, चिन्तकों का द्वेतक होने के साथ-साथ एक प्रकार का परम तत्त्व का द्योतक है; जबकि क्षत्र शब्द प्रभुत्त्व और शासन की शक्ति को द्योतित करता है। सामान्यतः क्षत्र शब्द का जो अर्थ लिया जाता है उसके अनुसार यह शब्द रक्षा करने के अर्थ में आता है और प्रशासन के अर्थ में भी इसका प्रयोग किया जाता है। यद्यपि ब्रह्म और क्षत्र शब्द को लेकर कुछ विद्वान् परस्पर विरोधी विचार व्यक्त करते हैं।[२]

इस सम्बन्ध में यहाँ पर यह विचारणीय है कि किसी भी राज्य के संचालन में ब्रह्म और क्षत्र की समान रूप से आवश्यकता होती है अर्थात् किसी भी राज्य का संचालन ब्रह्म के रूप में चिन्तक से और क्षत्र के रूप में अनुशासक से होता है। जो विचारक होते हैं उनके विचार ही प्रशासन में प्रयुक्त किये जाते हैं। इसलिये उपनिषद् चिन्तन में यह कहा गया है कि राज्य संस्था का निर्माण मेधावी विचारशील चिन्तकों द्वारा ही हुआ है।[३]

---

१. ऋक् ५/८५/३; १/२५/१५; २/२५/२

२. वै०इ० भाग (१) पृ० २०२; भाग (२) पृ० १७७

३. उ०स०सं०, पृ० ३५

वैदिक साहित्य में देवों और असुरों के रूप में दो ऐसे समुदायों की चर्चा है जो प्रारम्भ में संघर्षशील हुये। इन दोनों के संघर्ष को कुछ विचारकों ने आर्य और अनार्य के सम्बन्ध के रूप में प्रस्तुत किया है। वहाँ पर यह उललेख है कि जब युद्ध में देवता पराजित हुए तो उन्होंने कहा कि हमारा कोई राजा नहीं है जिससे हमको पराजित होना पड़ा।[१] इस रूप में वहाँ से यह संकेत ग्रहण किया जा सकता है कि राजा और राज्य की कल्पना सम्भवतः वहाँ से प्राप्त हुई।

राज्य की परिकल्पना के सम्बन्ध में कुछ विद्वान् यह मत व्यक्त करते हैं कि समाज में यदि राजा और राज्य की प्रतिष्ठा नहीं होगी तो राजा की अनुपस्थिति में अराजकता का साम्राज्य होगा। अराजकता के इस स्वरूप में समाज की वही दशा हो जावेगी जैसे किसी बड़े जलाशय में रहने वाली मछलियों की दशा होती है। किसी भी जलाशय में रहने वाली मछलियों में जो छोटी मछली होती है उसे बड़ी मछली अपना आहार बना लेती है और ऐसा अनर्थ करने पर भी उसके ऊपर नियन्त्रण करने वाला कोई नहीं होता। यदि समाज ने राजा और राज्य की कल्पना न की होती तो हर बनवान व्यक्ति निर्बल का शोषण करता और इस रूप में असहाय व्यक्ति का जीवन चलना दुष्कर हो जाता। इसी प्रकार से यदि राज्य की व्यवस्था न होती तो धर्म, अर्थ और काम का यथानुरूप पालन न होता और शासक भी अपने मनोकूल आचरण करके निर्बल व्यक्तियों को पीड़ित करने लगता। इसी प्रकार से वर्ण और आश्रम व्यवस्था भी विकृत हो जाती। न कोई अपने वर्ण के लिए निर्धारित कार्य करता और न ही सहज रूप में दूसरे को उसका कार्य करने देता।

---

१. ऐ० ब्रा० १/१/१४

व्यापार की व्यवस्था भंग हो जाती और कृषि में भी व्यवस्था का कोई स्वरूप शेष नहीं रहता। इस रूप में विद्वान् कहते हैं कि राजा और राज्य के गठन न होने पर समाज में किसी प्रकार की व्यवस्था दिखाई नहीं देती।[१] राजा के भाव को अथवा कार्य को प्राचीन समय में राज्य कहा गया है।[२] अनेक स्थानों में राज्य शब्द के लिए मण्डल, जनपद, देश, प्रदेश, विषय और राष्ट्र जैसे शब्दों का प्रयोग किया गया है।[३] अन्य स्थानों पर राज्य शब्द के लिए विविध कोषकारों ने जिन अर्थों का प्रयोग किया उसके अनुसार यह कहा गया है कि राज्य राजा का कार्य है उसका शासन है अथवा वह क्षेत्र है जिस पर राजा शासन करता है।[४]

अत्यधिक प्राचीन काल में राज्य शब्द का संकेत तो किया गया है किन्तु वहाँ पर इसका सम्पूर्ण अभिप्राय स्पष्ट नहीं हो सका है फिर भी राज्य से तब जो अभिप्राय प्रकट हुआ है उसके मूल में परम्परा और पराक्रम ही निहित है। एक वेद में इस प्रकार का संकेत है जिसमें यह कहा गया है कि कोई भी राजा किसी भी राष्ट्र का एकाधिकारी शासक है। इसके साथ ही साथ वहाँ पर यह संकेत है कि राज्य एक ऐसा विशेष भूखण्ड है जिस पर राजा शासन करता है।[५] इसी तरह से एक अन्य कथन में यह संकेत किया गया है कि राज्य के लिये ही राजा का निर्वाचन होता है इसलिए जिस भी रीति से राज्य का संरक्षण हो वही राजा का कर्तव्य है।[६]

---

१. प्रा. भा. रा. वि. सं., पृ. २५०; वा.रा. अयो. ६७/३१
२. का. ६/४/१६८
३. श. क. भाग (४), पृ० १३०
४. वृ. हि. को., पृ० ११/४६; मा.हि.को., पृ० ४६८
५. विषामपतिरेकराट त्वं विराजा। सर्वास्त्वा राजन् प्रदिशो..... ।अथर्व ३/४/१
६. वही; पृ० ६/५४/२

राजा की वैधानिक शक्ति :-

महर्षि मनु ने राजा के अधिकारों के सम्बन्ध में यह लिखा है कि ब्रह्मा ने अपनी सृष्टि में राजा को दण्ड के रूप में उत्पन्न किया है। इस रूप में उन्हों ने कहा है कि यह जो दण्ड है वही राजा है, वही नेता है और वही शासक है। चारों वर्णों और आश्रमों का सञ्चालन भी वही है तथा चारों वर्णों और आश्रमों के लिए शिक्षक भी वही है। यदि राजा आलस्य का परित्याग करके अपराधियों के लिये दण्ड का विधान न करे तो बलवान प्राणी निर्बल को उसी तरह से पका देवें जैसे मछली को मछली खाने वाले शूल पर पका देते है।[1] एक अन्य स्मृति में यह कहा गया है कि ब्रह्मा ने धर्म को ही दण्ड रूप में सृजित किया है और उस दण्ड का प्रयोग करना राजा का कर्तव्य है।[2]

इस रूप में हम यह देखते हैं कि दण्ड और दण्ड का अधिकार राजा के लिए सुरक्षित है यदि समाज में कोई भी व्यक्ति अनीति का आचरण करता है अथवा अन्याय के रास्ते पर चलता है तो वह दण्ड पाने का अधिकारी होता है। उपनिषद् परम्परा में यह देखने को मिलता है कि राजा का पद उसके पुत्रों को उत्तराधिकार के रूप में मिलता था। उस समय राजपद के लिए किसी तरह का निर्वाचन नहीं होता था यद्यपि तब राजा पर नियंत्रण करने वाली सभा अथवा समितियां थी किन्तु उनके पास भी इतना असीमित अधिकार नहीं था कि वे राजा के ऊपर शासन कर सकतीं। सम्भवतः वे राजा को सलाह देतीं थीं और तदन्तर राजा उस पर आचरण करता था। इस रूप में समितियों में शक्ति के निहित होने पर भी राजा में अधिक शक्ति थी जिससे वह राज्य का संचालन करता था।[3]

---

१. स राजा पुरुषो दण्डः स नेता शासिता च सः। यदि न प्रणपेद् राजा दण्ड दण्डेश्वतन्द्रितः।। शूले मत्स्यानिव......। म.स्मृ. ७/१७/२०

२. धर्मो हि दण्डरूपेण ब्राह्मणः निर्मितः पुरा। या.स्मृ; पृ० १५६

३. उ०स०सं०, पृ० ४८

उपनिषद् परम्परा में राजा के लिये जिन पदों का सम्बोधन किया गया है उनके अनुसार उसे राजा, सम्राट, एकराट्, महाराज आदि पदों से सम्बोधित किया जाता था। इन सभी पदों के सम्बोधन से यह प्रतीत होता था कि वह प्रजा पर शासन करने वाला एक क्षत्र शासक है और प्रजा के लिये वह आवश्यक है कि वह सभी प्रकार से राजा के अनुशासन को स्वीकार करें। इस रूप में कभी-कभी यह भी प्रकट होता था कि जहाँ राजा को इतने असीम अधिकार प्राप्त थे वहीं पर उसका यह कर्तव्य भी था कि वह प्रजा की इच्छा की पूर्ति करे और उस समय राजा प्रजा की इच्छा की पूर्ति करने को अपना कर्तव्य भी मानते थे।[१]

इन संकेतों के अतिरिक्त उपनिषदों में अन्य जो संकेत मिलते हैं उनके अनुरूप यह कहा जाता है कि तब राजा को उसकी भूमि पर उसका पूर्ण स्वामित्व था। वह अपनी इच्छा से किसी को भी अपने भू-भाग का दान कर सकता था। एक उपनिषद् में यह संकेत किया गया है कि जानश्रुति नाम के एक राजा ने ऐसा ही किया था और अपनी भूमि का एक भाग प्रसन्न होकर एक तपस्वी को दे दिया था।[२] तब के समय में राजा के अन्य अधिकारों में और जो अधिकार कहे गये हैं उनमें से इसका कथन है कि राजा अपनी सहायता के लिये सूत, ग्रामणी और दूत आदि की नियुक्ति कर सकता था।[३] एक विद्वान् ने राजतन्त्र शब्द उद्धृत करके इसका शाब्दिक अर्थ देने का प्रयत्न किया है। उन्होंने यह लिखा है कि राजतन्त्र का अर्थ है- राजा का तन्त्र। तन्त्र का अर्थ है शासन; इसलिये राजतन्त्र का अर्थ है राजा का ऐसा तन्त्र जिसमें राजा को सभी प्रकार के अधिकार प्राप्त होवें अथवा उसका शासन पूरी तरह से चलता हो।[४]

---

१. छा० उ० ८/१/५
२. छा० उ० ४/२/४
३. उ० सा० सं० , पृ० ४३
४. सं० हि० को०, पृ० ४२०

राजतन्त्र शब्द को लेकर जब इस प्रकार का अर्थ किया जाता है तो इसका अभिप्राय यह होता है कि ऐसा राज्य जिस पर राजा का पूरा अधिकार हो और जिसके अधिकार को कोई भी चुनौती देने वाला न हो। इस रूप में एक अन्य स्थान पर यह मन्तव्य व्यक्त किया गया है कि राजतन्त्र एक ऐसी शासन पद्धति है जिसमें प्रशासन की पूरी बागडोर राजा के हाथों में होती है और उसमें किसी भी प्रकार से किसी का कोई हस्तक्षेप नहीं होता।[१] इस रूप में इस तन्त्र में राजा अपने राज्य का सर्वेसर्वा होता है और वह अपनी इच्छा से ही राज्य का शासन संचालित करता है। ऐसे राज्य में राजा की इच्छा ही सर्वोपरि होती है और राज्य संचालन में भी उसी की इच्छा को महत्व दिया जाता है। इस लिये राजा अपनी इच्छा से राज्य चलाता है।[२]

अन्य अनेक संदर्भों में भी जो अपेक्षाकृत उत्तरकालिक हैं, यह लिखा गया है कि राजा राज्य के अभ्युदय में प्रधान होता है। राजा का विकास हो इसके लिये वह निरन्तर प्रयत्नशील रहता है और अधिकार पूर्वक कृषि कार्य में सहयोग करता है। इसी तरह से व्यापार भी प्रजा के विकास में सहायक होता है इसलिये राजा व्यापार कार्य में भी निरन्तर सहयोग करता है और प्रजा की हित कामना में लगा रहता है जिससे उसके अधिकार और कर्तव्य का बोध होता है।[३]

इस रूप में प्राचीन समय में राजा पर्याप्त मात्रा में अधिकार सम्पन्न होता था और सामान्यतः उस पर नियन्त्रण करने वाला कोई नहीं होता। समितियां यदि नियन्त्रण भी करतीं तो उनकी शक्ति एक सीमा तक प्रभावित होता थी। सर्वाधिक शक्ति सम्पन्नता राजा में ही निहित थी और राजा उसका उपयोग अपनी बुद्धि विवेक से करता था।

१. सं०इ० डि० पृ० ४३६
२. सं०सा० रा०, पृ० ३८
३. म० भा० सभापर्व ५/६८; शान्ति ८८/३५

राजा का कार्य-व्यवहार :-

कौटिल्य अर्थशास्त्र में धर्म की अवधारणा को दो प्रकार से प्रस्तुत किया गया है। एक रूप में वहां पर यह कहा गया है कि जिन कर्तव्यों का पालन वर्णों और आश्रमों के माध्यम से होता है वे विशेष धर्म हैं क्योंकि उनका पालन विशेष-विशेष वर्णों और आश्रमों के द्वारा किया जाता है। इस रूप में धर्म की यह व्यवस्था व्यक्तियों के लिये कर्तव्य रूप में कही गयी है। दूसरा जो धर्म सभी के लिये कहा गया है, वह सामान्य धर्म के रूप में कथित है? उसमें यह कहा गया है कि सत्य अहिंसा, क्षमा, करुणा आदि ऐसे गुण हैं, जो सभी के द्वारा पालन करने योग्य हैं। और इसलिये वे सभी सामान्य धर्म हैं। इस रूप में हम यह अनुमान कर सकते हैं कि कौटिल्य कालिक समाज में धर्मों का कथन कर्तव्य रूप में हुआ था जिसका अभिप्राय यह था कि जिस वर्ण के लिये और आश्रमवासी के लिये जो कर्तव्य कहे गये थे वही उनके लिये विशेष-विशेष धर्म थे।

धर्म की यह अवधारणा प्राचीन समाज में भी स्वीकृत थी और एक उपनिषद् में यह कहा गया है कि राजा निर्बल व्यक्तियों के साथ बलवानों पर भी शासन करता है और उसका शासन धर्म के द्वारा ही चलता है।[१]

प्राचीन समय में शासन चलाने के लिये विधि व्यवस्था को भी स्वीकार किया गया है और यह कहा गया है कि निर्बल व्यक्ति के द्वारा भी जब राज्य संचालन की क्षमता आती है तो उसके मूल में विधि ही होती है। संहिता काल में धर्म की प्रतिष्ठा ऋत् के रूप में की गई है और ऋत् की व्याख्या में कहा गया है कि यह व्यवस्थित नियमों का विनियोग था जिसे उत्तम गमन और निश्चित नियम भी कहा जाता है।[२]

---

१. वृ०उ० १/४/१४

२. प्रा० रा० न्या०, पृ०६-७

राजा के लिये प्रारम्भिक समय से ही कुछ कर्तव्यों का निर्धारण किया गया था। उन कर्तव्यों के अनुसार यह कहा गया था कि राजा का प्रथम कर्तव्य यह है कि वह सभी प्रकार से प्रजा की रक्षा करे। महर्षि वेदव्यास ने स्मृतिकार मनु ने और कवि कालिदास ने यही संकेत किया है कि राजा का प्रथम कर्तव्य यही है कि वह सभी प्रकार से प्रजा की रक्षा करे।[१]

प्रजा की रक्षा करने के सम्बन्ध में यह विचार किया गया है कि राजा बाहर से होने वाले आक्रमणों से तथा चोर डाकुओं से इस प्रकार प्रजा की रक्षा करे जिससे किसी भी प्रकार से उसके प्राणों पर संकट न आने पावे और न ही किसी प्रकार से प्रजा की सम्पत्ति नष्ट होने पावे। प्राचीन ऋषियों ने राजाओं के कर्तव्यों का जिस रूप में निर्धारण किया है उसे हम चार रूपों में देख सकते हैं। इसका प्रथम स्वरूप तो यह है कि राजा सभी प्रकार से प्रजा का पालन करें और किसी भी प्रकार से उसके राज्य में प्रजा कष्ट की भागीदार न बनें। राजा का दूसरा कार्य यह है कि वह सभी वर्णों से उनके कर्तव्यों का पालन करावें। इसी तरह से राजा अपने आश्रम में रहता हुआ इस प्रकार का आचार-व्यवहार करे जिससे वह दूसरे आश्रमवासियों के लिये आदर्श बन सके। इस रूप में भी वर्णाश्रम धर्म का पालन करे और दूसरों से भी वर्णाश्रम धर्म का पालन करावें। राजा के तीसरे कर्तव्य के रूप में यह कहा गया है कि वह दुष्टों पर शासन करे और किसी भी प्रकार से कोई दुष्ट प्रजा को कष्ट न दे सके- यह इसका तीसरा कर्तव्य है। चौथे कर्तव्य के रूप में राजा प्रजा के लिये न्याय की

---

१. म०भा०शां० पं० ६८/१-४, म०स्मृ० ७/१४४, रघु० १४/६७

व्याख्या करे और इस प्रकार से आचरण करता रहे जिससे न्याय की मर्यादा बनी रहे।[1]

एक पुराणकार ने लिखा है कि राजा को जो शरीर प्राप्त हुआ है वह इसलिये नहीं है कि अपने उस शरीर के द्वारा वह विविध भोग प्राप्त करे। राजा को महीपति कहा जाता है इसलिये वह पृथ्वी पालन के लिये सदा सर्वदा दत्त चित्त रहे और धर्म पालन के लिये यदि उसे अनेक प्रकार के क्लेश सहन करना पड़े तो वह उन क्लेशों को सहन करके भी धर्म का पालन करे और प्रजा की रक्षा करे।[2]

आचार्य कौटिल्य ने राजा के लिये अत्यधिक कठिन नियमों का विधान किया है। उन्होंने यह लिखा है कि राजा के लिये यह आवश्यक है कि वह अपनी प्रसन्नता को ध्यान में रख कर कोई कार्य न करे। इसका अभिप्राय यह हुआ कि राजा ऐसा कोई कार्य न करे जिससे उसे तो प्रसन्नता प्राप्त हो किन्तु प्रजा कष्ट का अनुभव करे। इसका हेतु देते हुए आचार्य कौटिल्य ने अपना यह मत व्यक्त किया है कि प्रजा के हित में ही राजा का हित निहित है। अर्थात् यदि राजा निरन्तर प्रजा के हित में संलग्न रहेगा तो राजा का हित स्वयं ही सम्पादित होता रहेगा। प्रजा के सुखी रहने पर ही राजा का सुख निहित है और प्रजा के सुख के साथ ही राजा का सुख जुड़ा हुआ है।[3] इस रूप में यह स्पष्ट हो जाता है कि राजा के लिये जिन कार्यों का वर्णन किया गया है इनमें उसके द्वारा प्रजा का हित सम्पादन करना ही उसका प्रथम कार्य है।

---

१. कौ० अ० , पृ० १४

२. राज्ञां शरीरग्रहणं न भोगाय महीपते।
क्लेशाय महते पृथ्वी स्वधर्मपरिपालने। मार्क- १३०/३३-३४

३. प्रजा सुखेसुखं राज्ञः प्रजानां च हिते हितम्।
नात्मप्रियं हितं राज्ञः प्रजानां तुं प्रियं हितम्।। कौ०अ०, पृ० ७७

प्राचीन संदर्भों में राजा के कार्य और कर्तव्यों को राजधर्म के रूप में निरूपित किया गया है इसलिये तब के विचारकों और ऋषियों ने कुछ ऐसे नियमों का प्रतिपादन किया था जिनसे राजा के कार्य व्यवहार को नियन्त्रित किया जा सके। राजा अपनी इच्छा से कभी स्वतन्त्र होकर अनाचरण न करने लगे और स्वछन्द न हो जाये इसके लिये सामान्य नियम और विशेष नियम तब निर्धारित किये गये थे। इन नियमों में कुछ नियम वैयक्तिक नियम थे और कुछ नियम सार्वजनिक नियम थे और इनमें से जो वैयक्तिक नियम थे उनमें आत्मनियन्त्रण, आचरण, धर्म और नीतियों का पालन तथा व्यैक्तिक सुरक्षा सम्बन्धी नियम सम्मिलित थे। इसी तरह से जो सार्वजनिक नियम निर्धारित थे उनमें नीति-निर्धारण और दण्ड विधान सम्मिलित थे जिनका सम्बन्ध प्रजा से था।[1]

वैदिक साहित्य में राजा के कर्तव्यों के सम्बन्ध में जो निर्देश किया गया है उसमें यह कहा गया है कि राजा प्रजा के लिये प्रिय होना चाहिये, उसे चाहिये कि वह सर्वतोभावेन प्रजा का पालन करे। वह ऐसे कार्य करे जिससे राज्य में सुख समृद्धि बढ़े और सभी ओर धन-धान्य की वृद्धि हो, वह अपने राज्य में ऐसी व्यवस्था करे जिससे प्रजा के सभी जन अपने-अपने लिये निर्धारित धर्म कार्य में लगे रहें और सभी अपने कर्तव्यों का निर्वाह करें।[2]

एक अन्य सन्दर्भ इस प्रकार का भी है जो विपत्ति राजा पर आती है उसका प्रभाव केवल राजा पर नहीं पड़ता अपितु उसका प्रभाव सम्पूर्ण प्रजा पर पड़ता है। इसलिये राजा को वैयक्तिक तथा सार्वजनिक कर्तव्यों के अतिरिक्त आपद् धर्म का निर्वाह भी करना पड़ता है।[3]

---

१. ध्यो० एशि० इ० पृ० ७५

२. अथर्व० ३/४/१-३

३. क०जि० द० , पृ० ११२

प्रारम्भिक संकेत जो वेदों और ब्राह्मणादि ग्रन्थों से लिये जा सकते हैं उनमें भी राजा के लिये अनेक प्रकार के आचारों का कथन किया गया है। एक वेद में यह कहा गया है कि ब्रह्मचर्य और तप से ही राजा राष्ट्र की रक्षा करता है। इसका अभिप्राय यह है कि जो राजा ब्रह्मचर्य का पालन नहीं करता है और तपस्या में निरत रहता है वही राजा राष्ट्र की रक्षा करने में समर्थ होता है। बिना इन सत् मार्गों का आश्रय लिये वह राज्य की रक्षा नहीं कर सकता है।[१] ब्राह्मण ग्रन्थों में राजा के लिये यह कहा गया है कि राजा राष्ट्र भृत है अर्थात् वह राज्य का भरण-पोषण करने वाला है। इसका अभिप्राय यह हुआ कि जो राजा अपने कर्तव्यों से भली प्रकार राज्य का भरण-पोषण नहीं कर पाता वह ठीक राजा नहीं है और वह यशस्वी भी नहीं हो सकता। राजा का कार्य है कि वह सूर्य की भाँति तपे और जिस प्रकार सूर्य सम्पूर्ण पृथ्वी को ऊर्जा प्रदान करता है उसी तरह से राजा भी प्रजा को ऊर्जा प्रदान करे।[२]

एक अन्य स्थान पर यह कथन किया गया है कि राजा इस प्रकार का कोई कार्य न करे, जिससे प्रजा आन्दोलित हो। वह प्रजा का रक्षक है, धर्म पालक है और प्रजा का प्रेरक है। उसके लिये यह आवश्यक है कि वह सभी प्रकार से प्रजा की रक्षा करे। उसके लिये यह भी आवश्यक है कि वह दुष्टों और अपराधियों के लिये उचित दण्ड की व्यवस्था करे। इसी के साथ ही राजा के लिये यह भी कहा गया है कि वह स्वयं अपने कर्तव्यों का निर्वाह करता हुआ प्रजा के लिये प्रेरणास्पद हो जिससे प्रेरित होकर प्रजा अपने कर्तव्यों का पालन विधिपूर्वक कर सके।[३]

---

१. ब्रह्चर्येन तपसः राजा राष्ट्र वि रक्षति। अथर्व. ५/१/७

२. ऐ०ब्रा० ७/३४

३. गौ०ध०सू० ११/६/१०; व०ध०सू० १६/-२;
म०भा०शां०प० २५/३२-३४

आचार्य कौटिल्य ने राजा के कर्तव्य का कथन दो प्रकार से किया है। इसमें वे यह लिखते हैं कि राजा को व्यक्तिगत रूप से अपनी दिन चर्या को इस प्रकार से बांट लेना चाहिये जिसमें वे अपने कर्तव्यों का निर्वाह भली प्रकार से कर सकें। अर्थात् राजा अपने दिन का कार्य इस प्रकार करे जिससे उसका पूरा कार्य और उसके कर्तव्य निर्वाहित होते रहें। आचार्य कौटिल्य लिखते हैं कि राजा दिन और रात के समय को आठ घड़ियों में बांटे जिसमें वह पूर्वार्द्ध में रक्षा सम्बन्धी कार्यों का निरीक्षण करे और व्यतीत हुये दिन में अपने आय-व्यय की जांच करे। अर्थात् उसके समय का जो पूर्वार्द्ध भाग है वह उसका भाग रक्षा सम्ब-न्धी कार्यों के लिये व्यतीत होवे। इसी तरह से वह बीते हुये दिन के समय में आय और व्यय की जांच करे। इसी प्रकार से उस राजा का जो दूसरे भाग का समय है उसमें वह पुरवासियों के कार्यों का निरीक्षण करे और बाद में मध्याह्न के समय में भोजन और स्वाध्याय करे।

राजा के निर्धारित समय का जो उत्तरार्द्ध है वह उस समय में अपने मन्त्रियों के सहयोग से पत्राचार करे और दिन के अन्त में सेनापति के साथ बैठें तथा उससे युद्ध आदि के सम्बन्ध में विचार करें। जिस प्रकार दिन के समय को विभाजित करके राजा के लिये कार्य करने का निर्देश किया गया है उसी तरह से यह भी लिखा गया है कि राजा अपने समय में रात्रिकालीन कार्य का विभाजन भी करे। इस कार्य में वह दिन में किये गये कार्यों का पुनरीक्षण करे और अपने मन्त्रियों से गुप्त मन्त्रणा आदि का कार्य करे।[१]

---

१. कौ० अ० , पृ० ७५

राजा और राजपुत्र :-

प्राचीन समय से ही राज्यों को लेकर और राज्य के उत्तराधिकार को लेकर विवाद से बचने की स्थितियों पर विचार किया गया है और इस सम्बन्ध में विविध प्रकार के मत दिये गये हैं। महर्षि वाल्मीकि ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ वाल्मीकि रामायण में राज्य के उत्तराधिकार के सम्बन्ध में यह लिखा है कि राजा के पुत्रों में से जो ज्येष्ठ हो उसे उत्तराधिकार प्राप्त होना चाहिये। तब अपना उत्तराधिकारी घोषित करने की दृष्टि से राजा अपने ज्येष्ठ पुत्र को युवराज घोषित कर देता था और राजा के जीवन काल के पश्चात् युवराज को ही राजा बना दिया जाता था।[१] इस सम्बन्ध में महाराज दशरथ का उदाहरण है जिन्होंने अपने जीवन काल में ही श्रीराम को राज्य का उत्तराधिकारी घोषित कर दिया था और श्रीराम को युवराज के पद पर अभिषिक्त कर दिया था। युवराज के सम्बन्ध में महर्षि शुक्राचार्य ने यह लिखा है कि युवराज और मन्त्री राजा की दो आंखें होती हैं। अथवा इन दोनों को राजा की दो भुजायें जानना चाहिये।[२] इस नियम निर्धारण के सन्दर्भ में शुक्राचार्य यह अवश्य लिखते हैं कि राजा को यह चाहिये कि वह मृत्यु के समय को छोड़कर कभी युवराज को सम्पूर्ण राज्य का अधिकारी न बनावें।[३] इस अभिमत के प्रसंग में सम्भवतः आचार्य का यह अभिप्राय रहा होगा कि यदि राजा अपने जीवन काल में पुत्र को राज्य देता है तो कहीं ऐसा न हो कि पुत्र अपनी महत्वाकांक्षा से राजा को ही पीड़ित करने लगे। इसलिये वे लिखते हैं कि राजा अपनी मृत्यु के समय ही पुत्र को राज्य के पद पर अभिषिक्त करे।

---

१. वा० रा० अयो० ३/६

२. शु० नी० २/१४-१६

३. वही, २/१२; ५/१७

एक आचार्य कामन्दक राज पुत्र के लिये यह लिखते हैं कि राजपुत्र यदि अविनीत हो अर्थात् दुष्टता का व्यवहार करने वाला हो तो राजा को यह चाहिये कि वे उसका परित्याग न करें। यदि कोई राज पुत्र ऐसा है तो राजा को चाहिये कि वह उसे किसी स्थान पर बन्दी बनाकर रखें और निरन्तर उसकी देखभाल करते रहे। ऐसा करने के पीछे उनका यह तर्क है कि राजा यदि ऐसा नहीं करेगा तो सम्भव है कि वह दुष्ट पुत्र किसी विरोधी राजा से मिल जाये और अपने पिता के लिये समस्या बन जाये।[१]

एक पुराण में पुराणकार ने यह संकेत किया है कि राजकुमारों को धर्मशास्त्र, कामशास्त्र, अर्थशास्त्र और धनुर्वेद आदि का ज्ञान कराना चाहिये। ऐसा करने से वे विविध शास्त्रों के अध्ययन में लगे रहेंगे और उसमें दुष्प्रवृत्ति का प्रादुर्भाव नहीं होगा। पुराणकार लिखते हैं कि यदि वे पढ़ने-लिखने में प्रवृत्त न हों तो राजा को चाहिये कि वह अपने ऐसे पुत्रों को आमोद-प्रमोद में लिप्त कर दे जिससे वे राजा के शत्रुओं के साथ मिल न सकें।[२]

आचार्य कौटिल्य राजपुत्रों पर पर्याप्त रूप से विचार करते हैं और वे इस प्रकार के विचार करने में न केवल राजकीय दृष्टि को महत्व देते हैं अपितु इसमें उनकी मानवीय दृष्टि भी सम्मिलित है।

कौटिल्य ने इस सम्बन्ध में जो विचार किया है उसमें उन्होंने यह कहा है कि राजा को सदैव सावधान रहना चाहिये और अपने पुत्रों से अपनी रक्षा करते रहनी चाहिये। यदि वे ऐसा नहीं करेंगे तो राजपुत्र राजा को उसी प्रकार से खा जायेंगे जैसे केकड़े अपने जन्मदाता को खा जाते हैं।[३]

---

१. का० नी० ७/६

२. अ० पु० २२५/१-४

३. पुत्र रक्षणं जन्म प्रभृतिः राजपुत्रान् रक्षेत्।
कर्कटक सधर्माणो हि जनकभक्षाः राजपुत्राः ।। कौ० अ० पृ० ६४

इस सम्बन्ध में एक आचार्य बहुत कठोरता का मत व्यक्त करते हैं। वे तो यहाँ तक लिख देते हैं कि किसी राजा का कोई पुत्र यदि पितृ भक्त न हो और यह प्रतीत हो कि वह किसी समय राजा के लिये संकट उत्पन्न कर सकता है तो चुपचाप उस पुत्र का वध करावे। इस मत का उल्लेख आचार्य कौटिल्य ने किया है।[1]

यह मत अत्यधिक कठोर मत है और सामान्य रूप से इसे स्वीकार कर पाना कठिन है इसलिये आचार्य कौटिल्य ने इस मत का खण्डन करने वाले एक अन्य मत को उद्धृत किया है, जिसमें यह कहा गया है कि एक आचार्य इस प्रकार के कर्म को जघन्य कर्म की संज्ञा देते हैं और कहते हैं कि ऐसा करना पाप होगा। इस आचार्य ने यह लिखा है कि ऐसा करने से ऐसा भी हो सकता है कि क्षत्रीय वंश ही निर्मूल हो जाये इसलिये वे एक समाधान देते हैं कि यदि कोई पुत्र ऐसा है जो अपने पिता के अनुकूल नहीं है और जिसमें पितृ भक्ति दिखाई नहीं देती तो उसे एक स्थान पर कैद करके रखा जाना चाहिये। इससे पुत्र विपरीत मार्ग पर भी नहीं जायेगा और पिता की शंका भी निर्मूल हो जायेगी।[2]

आचार्य कौटिल्य ने और अन्य मत भी रापुत्रों के सन्दर्भ में दिये हैं। उनमें कहा गया है कि कोई राजा यदि अपने पुत्र को बन्दी बनाकर अन्य स्थान पर रखता है तो यह और खतरनाक काम होगा। ऐसा करने से कोई शत्रु राजा उस राजपुत्र का उपयोग अपने पक्ष में कर सकता है और इससे समस्या उत्पन्न हो सकती है। इस लिये ऐसा करना भी उचित नहीं होगा और ऐसा करने से राजा तथा राज्य के प्रति विरोध को दबाया नहीं जा सकेगा।[3]

---

१. कौ० अ०, पृ० ६४
२. वही, पृ० ६४
३. वही, पृ० ६५

कौटिल्य अर्थशास्त्र में राजपुत्रों के सन्दर्भ में अन्य अनेक मतों को उद्धृत किया गया है जिनमें से एक आचार्य का यह मत उद्धृत है कि जो पुत्र राजपिता के अनुकूल न हो उसे अनेक प्रकार के विषय भोगों में फंसा देना चाहिये इससे उसे राजा का विरोध करने का अवसर उपलब्ध नहीं होगा। इसी तरह के अन्य मत भी दिये गये हैं जिनमें अनेक प्रकार के उपायों का सुझाव दिया गया है किन्तु आचार्य कौटिल्य इन सबका निषेध करते हुये इस दृष्टि से अपना मत प्रस्तुत करते हैं, जिसमें मानवीय दृष्टि और राज्य की दृष्टि सम्मिलित है। अपनी इस दृष्टि के अनुरूप वे कहते हैं कि राजा अपने सभी पुत्रों के प्रति कल्याण की कामना करता रहे। यदि सभी पुत्र राजा के अनुकूल हों तो राजा को चाहिये कि उनमें से जो ज्येष्ठ और प्रिय है उसे राजा बनावें। वे यह भी कहते हैं कि वे अनेक पुत्रों में से यदि कोई एक पुत्र दुर्बुद्धि हो तो उसे विदेश भेजकर उसका पालन-पोषण करना चाहिये।[१]

आचार्य कौटिल्य ने ऐसा मत दिया है जो मानवीय संवेदना की दृष्टि से बहुत ही महत्वपूर्ण है। वे लिखते हैं कि किसी राजा के यदि एक से अधिक पुत्र होवें और उन सभी के बीच में सौहार्द हो तो राजा को चाहिये कि वह ऐसी व्यवस्था करे जिससे सभी मिलकर एक साथ राज्य का संचालन कर सकें। इससे एक दूसरे की असमर्थता पर एक दूसरे की सहायता कर सकेंगे।[२] यह ऐसा मत है जो मानवीय संवेदना को प्रकट करता है और इससे कभी भी राज्य के क्षीण होने की सम्भावना नहीं रहेगी।

---

१. बहूनामेक समरोधः पिता पुत्र हितो भवेत्।
अन्यत्रापद ऐश्वर्य ज्येष्ठाभागि तु पूज्यते।। कौ० अ० पृ० ६९

२. वही पृ० ७०

स्मृतियों में राजा की अवधारणा :-

स्मृतिकार राजा के सम्बन्ध में पर्याप्त रूप से विचार करते हैं। वे स्थान-स्थान पर राजा और उसके राज्य के लिये अपने विचार देते हैं और उसकी समीक्षा करते हैं। राजा का क्या स्वरूप होना चाहिये और किस प्रकार से उसे राज्य का संचालन करना चाहिये इस विषय में मनु स्मृतिकार महर्षि मनु ने यह लिखा है कि राजा उसी प्रकार का हो जो मनुष्यों के लिये चन्द्रमा की भांति हर्ष दायक हो। अर्थात् जिस प्रकार से पूर्ण चन्द्र को देखकर मनुष्य प्रसन्न होते हैं उसी प्रकार से राजा को देखकर और राजा के व्यवहार से मनुष्यों को प्रसन्न होना चाहिये। उन्होंने इस प्रसन्नता के हेतु के विषय में लिखा है कि राजा की उदारता, उसकी सहनशीलता और उसके पालन की विधि इस प्रकार की हो जैसे पृथ्वी बिना किसी भेदभाव के प्रजा का पालन करती है। अर्थात् राजा पृथ्वी की तरह उदार मना होकर प्रजा का पालन करे।

मनुस्मृतिकार ने राजा के लिये किये जाने वाले कार्यों को क्रम से लिखा है। इस क्रम में उन्होंने यह लिखा है कि राजा प्रातः काल उठकर वेदों को जानने वाले ब्राह्मणों से परिचर्चा करे और उन्हीं की आज्ञा में रहे। वह नित्य प्रति बृद्धों की सेवा करें और स्वयं भी बाहर तथा भीतर से पवित्र रहें। जो राजा इस प्रकार से वृद्ध जनों की सेवा करता है उसके वश में राक्षस भी हो जाते हैं। यद्यपि राजा के पास शक्ति होती है और अपने शक्ति सामर्थ्य से प्रजा का पालन करता है किन्तु मनु स्मृतिकार ने राजा के लिये यह लिखा है कि उसे विनम्र होना चाहिये। राजा के विनीत होने के कारण वह स्वयं कभी नष्ट नहीं होता और न उसका राज्य नष्ट होता है।[1]

---

१. ब्राह्मणान् परमुपासीत प्रातरुत्थाय पार्थिवः।

\- - - - - - - - -

वृद्धांश्च नित्यं सेवेत विप्रान् वेदविदः शुचीन्।। म०स्मृ० ७/३७/३ पृ० ३८

स्मृतिकार ने यह व्यवस्था दी है कि राजा को चाहिये कि वह अपने राज्य में इस प्रकार का व्यवहार करे जैसे व्यवहार का निर्देश शास्त्र में किया गया है। अर्थात् राजा जो भी व्यवस्था चलाये वह शास्त्रानुकूल होनी चाहिये और शास्त्र का उल्लंघन करके उसे किसी प्रकार का व्यवहार नहीं करना चाहिये। स्मृतिकार ने राजा के जीवन की शुचिता पर बहुत अधिक बल दिया है और उन्होंने यह निर्देश किया है कि राजा अपना जीवन इतना अधिक पवित्र रखे जितना पवित्र अपने जीवन को विरक्त रखते हैं। वे यह लिखते हैं कि राजा को केवल बाह्य विषयों से ही दूर नहीं रहना चाहिये अपितु विषयों के पास जो इन्द्रियाँ जातीं हैं उन पर भी विजय प्राप्त करनी चाहिये। इसका हेतु देते हुये वे कहते हैं कि जो राजा जितेन्द्रिय होता है वही प्रजा को स्वतन्त्र और स्वाधीन रख सकता है।[1]

राजा के लिये मनुस्मृतिकार ने यह व्यवस्था दी है कि वह राज्य संचालन में मन्त्रियों का सहयोग अनिवार्य रूप से ले क्योंकि उसे एक बहुत बड़े राज्य का संचालन करना होता है और ऐसा वह अकेले नहीं कर सकता है। इसलिये राजा को चाहिये कि वह उन मन्त्रियों का सहयोग ले जो धार्मिक हों और ब्राह्मण हों। सन्धि, विग्रह और आसान आदि के विषयों में जिन मन्त्रियों को पूर्ण ज्ञान हो, राजा को चाहिये कि वह उन्हीं का आश्रय ले और उनके द्वारा व्यक्त किये गये मत को महत्वपूर्ण मत के रूप में मान्यता दें। ऐसा राजा ही अपनी प्रजा पर अबाध्य रूप से राज्य करने में सक्षम होता है।[2]

---

१. इन्द्रियाणां जयेयोगं समातिष्ठेत् दिवानिशम्।
जितेन्द्रियो हि शक्नोति वशे स्थापयितुं प्रजाः।।

मनु.स्मृ. ७/४४

२. सर्वेषां तु विशिष्टने ब्राह्मणे विपश्चितः।
मन्त्रयेत् परं मंन्त्रं राजा षाड्गुण्य संयुतम्।। वही, ७/५८

एक अन्य स्मृतिकार ने राजा के लिये उसके स्वरूप और स्वभाव का वर्णन करने में यह कहा है कि राजा को नियम पूर्वक अपने दिन और रात्रि को बाँट लेना चाहिये। उसे अपने पूरे जीवन को इस प्रकार से प्रजा को समर्पित कर देना चाहिये जिससे प्रजा सभी प्रकार से प्रसन्न रहे और राजा की उसके जीवन में शुचिता बनीं रहे।[१]

जैसा कि मनुस्मृतिकार ने लिखा है कि राजा अपने राज्य का संचालन करने के लिये श्रेष्ठ मन्त्रियों के मत का आदर करें और तब वह राज्य का संचालन करे, उसी प्रकार से महर्षि याज्ञवल्क्य भी अपना मत देते हैं। वे यह लिखते हैं कि राजा को चाहिये कि दैवज्ञ, सभी शास्त्रों के ज्ञाता, दण्डनीति में कुशल ब्राह्मणों को अपना मन्त्री बनावे और उनके द्वारा की गई मंत्रणा को महत्वपूर्ण रूप से स्वीकार करें।[२] इस मत को प्रचीन परम्परा में भी स्वीकार किया गया है और तब के समय में नियुक्त होने वाले पुरोहित के विषय में यह कहा गया है कि वह राजा का पुरोधा होता था अर्थात् वह राजा के आगे स्थापित होता था। वह राजा के लिये शिक्षक जैसा होता था, पथ प्रदर्शक होता था और राजा के लिये मित्र रूप में होता था, वह राजा के साथ जाता था और युद्ध में राजा का साथ देता था इसलिये राजा के लिये उसकी मन्त्रणा का बहुत महत्व था।[३]

महर्षि मनु ने यह लिखा है कि ब्रह्मा ने राजा को दण्ड के रूप में उपस्थापित किया है। राजा इसी दण्ड शक्ति के द्वारा प्रजा पर शासन करता है और इसी से वह प्रतिष्ठित होता है। ऐसा विचार महर्षि याज्ञवल्क्य भी करते हैं। दोनों ने एक जैसे विचार इस सम्बन्ध में व्यक्त किये हैं।[४]

---

१. या० स्मृ० आचाराध्याय ३०६-३११

२. या०स्मृ० १/३/३

३. ऋक् १/१/१; ७/६०/१२

४. म०स्मृ० ७/१७,२०; या०स्मृ०, पृ० १५६

मन्त्री और उसकी अवधारणा :-

वैदिक तथा वेदोत्तर परम्परा में हम इस प्रकार के संकेत प्राप्त करते हैं जिनमें यह कहा गया है कि उस समय की सामाजिक तथा राजनीतिक व्यवस्था पर्याप्त रूप से सुदृढ़ थी। इन संकेतों में यह कहा गया है कि उस समय जिन देवताओं की कल्पना की गई है वे देवता किसी न किसी प्रकार के कार्य के लिये उत्तरदायी होते थे। अर्थात् वे पूज्यनीय थे आदर्य थे किन्तु वे समाज के प्रति उत्तरदायी थे। जैसे कि रुद्र के लिये कहा गया है कि वे समाज के प्रहरी थे, वसु के लिये धनिक कहा गया है, आदित्य के लिये प्रकाशक कहा गया है। वरुण के लिये प्रधान शासक कहा गया है और अग्नि के लिये वक्ता तथा पुरोहित का रूप कहा गया है।[१]

इसी प्रकार से वैदिक राज परिवार की व्यवस्था में जो राज कर्मचारियों और अधिकारियों के लिये निर्देश किया गया है उसमें रत्नि मण्डल का उल्लेख है। समीक्षक इस मण्डल को राज परिवार के कर्मचारियों और अधिकारियों के लिये संकेतिक मानते हैं।[२] इसी प्रकार से वैदिक ग्रन्थों में ही जो रत्नि मण्डल की सूची दी गई है उसमें ब्रह्मा को पुरोहित, राजन्य को राजकुल में उत्पन्न महिषी को राजपत्नी के रूप में कहकर वहाँ पर सेनानी, संग्रहीतक और सूत आदि का संकेत किया गया है।[३]

स्मृतिकारों में मनुस्मृतिकार तथा महर्षि याज्ञवल्क्य अपने-अपने मत से राजा के कार्य सम्पादन के लिये सहायकों की नियुक्ति करने के विषय में मन्तव्य प्रकट करते हैं। महाराज मनु ने यह लिखा है कि राजा को चाहिये कि वह अपने विस्तृत कार्य सम्पादन के लिये किसी एक व्यक्ति के हाथ में अपना कार्य सौंप दे। उन्होंने राज्य कार्य के सम्पादन के लिये किसी मंत्री की नियुक्ति करने का प्राविधान भी किया है।

---

१. अ०रा०, पृ० ७०
२. प्रा०भा०सा०, पृ० ११०
३. वै०को०,पृ० ४३४; तै०सं० १/८/६/१; श.ब्रा. ५/३/१/१; मै०सं० २/६/५

इस प्राविधान में उनका यह संकेत है कि राजा अपने राज्य की आवश्यकता के अनुसार मन्त्री की नियुक्ति करे और जो धार्मिक ब्राह्मण हों उनकी सम्मति से कार्य सम्पादित करता रहे।[१] महर्षि याज्ञवल्क्य भी राजा के लिये निर्देशित करते हैं कि वह मन्त्रणा पाने के लिये दैवज्ञ, सभी शास्त्रों के ज्ञाता, दण्डनीति में कुशल तथा अथर्व आदि में कुशल ब्राह्मण को पुरोहित के रूप में नियुक्त करे और उसी से मन्त्रणा लें।[२] ऋग्वेद में एक स्थान पर अग्नि की प्रार्थना करते हुये यह संकेत किया गया है कि वह मन्त्रियों अर्थात् अमात्यों के साथ हाथी पर बैठे हुये राजा की भांति यात्रा करे।[३] एक धर्म सूत्र में यह लिखा हुआ है कि अमात्य का अर्थ मन्त्री होता है और पुरोहित को पुरोधा कहते हैं।[४] वह शिक्षक होता है और पथ प्रदर्शक होता है और राजा के लिये मित्रवत होता है। वह राजा के इतने निकट रहता है कि राजा जहां जाता है वह भी राजा के साथ जाता है और यहां तक कि युद्ध में भी राजा के साथ जाता है।[५]

इस रूप में हम इन प्राचीन सन्दर्भों के संकेतों से यह अनुमान कर सकते हैं कि प्रारम्भ से ही जिस प्रकार समाज को व्यवस्थित रूप देने के लिये राजा की आवश्यकता थी उसी प्रकार से राजा के लिये यह भी आवश्यक था कि वह अपने कार्य की सहायता के लिये मन्त्रियों की नियुक्ति करे और उसकी मन्त्रणा को महत्वपूर्ण स्थान दें। वह मन्त्री बुद्धिमान, श्रेष्ठ और सदाचारी होवे।

---

१. सर्वेषां तु विशिष्टेन ब्राह्मणे विपश्चिता।
मन्त्रयेतपरमं मन्त्रं राजा षाड्गुण संयुतम्।। म.स्मृ. ७/५८

२. या०स्मृ० २/३/३

३. ऋक् ७/१५/३

४. आ०ध०सू० २/१०/२५/१०

५. ऋक् १/१/१; ७/६६/१२; ७/१८/१३।

मन्त्रि परिषद् का स्वरूप :-

वैदिक संदर्भों में यह संदर्भ दिया गया है कि उस समय राजा के राज्य संचालन के लिये अथवा उस पर नियन्त्रण करने के लिये दो प्रकार की संस्थायें कार्य करती थीं। तब एक प्रकार की संस्था को सभा कहा जाता था और दूसरे प्रकार की संस्था समिति कही जाती थी।[१] इन संस्थाओं के द्वारा जहां एक ओर जनता से सम्बन्धित हित के कार्य सम्पादित होते थे वहीं दूसरी ओर जनता के द्वारा राजा के निर्वाचन की प्रक्रिया भी निर्धारित की जाती थी। ऋग्वेद में अनेकों स्थलों पर सभा का उल्लेख है किन्तु उस सभा का स्वरूप कैसा हो यह स्पष्टता के साथ नहीं कहा जा सकता। तब सभा में जो श्रेष्ठ व्यक्ति होता था वह सभासद् कहा जाता था अथवा सभा के योग्य व्यक्ति को सभेय कहते थे।[२] इसी प्रकार से समिति शब्द का उल्लेख भी है किन्तु यह बहुत स्पष्टता के साथ निरूपित नहीं है कि समिति का स्वरूप कैसा होता था और उसका गठन कैसे किया जाता था। यह जरूर कहा गया है कि राजा समिति में जाता था और वहां जाकर समितियों के सदस्यों को अनुकूल करता था। एक स्थान पर यह कथन है कि समिति और राजा के चित्र में अनुकूलता हो तथा उन दोनों के हृदय समान हों।[३]

वेदोत्तर काल में जिसमें प्रमुख रूप से उपनिषदों का संकलन हुआ और जिन ग्रन्थों में अधिकतम मात्रा में जीव जगत् तथा ब्रह्म का विचार किया गया, उनमें समितियों और सभाओं का उल्लेख बहुत अधिक मात्रा में दृष्टिगत नहीं होता। इससे यह प्रतीत होता है कि तब समितियों और सभाओं का प्रभाव क्षीण हो चुका था इसलिये उस काल में इनके प्रभाव का उल्लेख अल्प मात्रा में ही ज्ञात होता है।[४]

---

१. ऋक् ६/२८/६; १०/३४/६

२. वही, १०/७१/१०; २/२४/१३

३. वही, १०/१६६/४; १०/१९१/३-४

४. उ०स०शं०, पृ० ४२-४३

स्मृतिकारों ने मन्त्रियों के लिये और मन्त्री परिषद् के लिये नियमों का उल्लेख किया है। वे यह संकेत करते हैं कि जैसे कोई रथ एक पहिये से नहीं चल सकता उसी तरह से राजा बिना मन्त्री के अपने कार्य का निर्वाह नहीं कर सकता। इसलिये जो राजा यह चाहता है कि उसके राज्य का संचालन विधि पूर्वक होवे तो इसके लिये वह मन्त्रियों की नियुक्ति कर लेवे।[1]

महा भारत और वाल्मीकि रामायण के काल में यह प्रतीत होता है कि तब मन्त्री और अमात्य दोनों ही राजा के लिये आवश्यक होते थे। वाल्मीकि रामायण में ऐसा संकेत है जिससे यह प्रतीत होता है कि मन्त्री और अमात्य में भेद था और इस भेद को वहां पर स्पष्ट रूप से अंकित किया गया है। वाल्मीकि रामायण में सुमन्त को अमात्य कहा गया है और सर्वश्रेष्ठ मन्त्री भी कहा गया है किन्तु इसी ग्रन्थ में आगे चलकर अमात्य तथा मन्त्री में भेद बताया गया है।[2]

आचार्य कौटिल्य ने मन्त्रियों और अमात्य में भेद किया है। वे राजाओं के लिये मन्त्रियों की नियुक्ति को आवश्यक मानते हैं और यह लिखते हैं कि सभी कार्य मन्त्रणा पूर्वक किये जाने चाहिये। इसका अभिप्राय यह है कि जब भी राजा कोई कार्य प्रारम्भ करे तो उसके पूर्व राजा मन्त्रणा कर लेवे। उसे बिना मन्त्रणा के कोई कार्य नहीं करना चाहिये। राजा के लिये मन्त्रियों की यही उपयोगिता है कि वे राजा के अनेकों कार्यों में सहयोग करे। राजा के अनेक कार्य होते हैं, वे भिन्न-भिन्न प्रकार के होते हैं।

---

१. म०स्मृ० ७/५५; शु० नी० २/१

२. वा०रा० १/७/३; १/२/१७

राजा के कार्य भिन्न-भिन्न स्थानों में होते हैं जिन्हें राजा अकेले सम्पादित नहीं कर सकता इसलिये राजा को चाहिये कि उन सभी कार्यों के लिये मन्त्री की नियुक्ति करे।[१] आचार्य कौटिल्य यद्यपि राजतन्त्र के समर्थक हैं तथापि वे मन्त्रियों की की महत्ता को स्वीकार करते हैं। वे यह लिखते हैं कि राजा को अपने महत्वपूर्ण कार्य केवल मन्त्रि परिषद् की सहायता से ही नहीं करने अपितु राजा को चाहिये कि वह मन्त्रियों के परामर्श को भी स्वीकार करे। राजा अपने कार्य को प्रारम्भ करने के पूर्व यह देखें कि क्या किसी कार्य पर विचार करते समय मन्त्रियों ने बहुमत से निर्णय किया है और यदि मन्त्रियों ने किसी कार्य के सम्पादन के लिये अपना बहुमत दिया है तो राजा उनके बहुमत का सम्मान करे और उसी के अनुरूप कार्य करे क्योंकि मन्त्री राजा के लिये नेत्र कहे जाते हैं।[२]

आचार्य कौटिल्य ने मन्त्रि परिषद् की संख्या के सम्बन्ध में अपना मन्तव्य दिया है। अपने ग्रन्थ कौटिल्य अर्थशास्त्र में उन्होंने अपना मन्तव्य देने के पूर्व पहले से चले आ रहे ऋषियों के विचारों को संकेतित किया है। इस संकेत में उन्होंने यह लिखा है कि किसी राजा का यह मत है कि राजा अपने मन्त्रि परिषद् में तेरह मन्त्रियों की नियुक्ति करे। किसी एक अन्य आचार्य का यह मत है कि राजा अपने मन्त्रियों की संख्या बारह रखे। वे यह लिखते हैं कि एक आचार्य अपना मन्तव्य यह देते हैं कि राजा को चाहिये कि वह अपने मन्त्रि परिषद् में बीस मन्त्री बनावें। अर्थात् राजा के मन्त्रि मण्डल में बीस मन्त्री होवें।

---

१. कौ० अ० ५८
२. वही पृ० ५७-५८

आचार्य कौटिल्य ने कामन्दक के मत का समर्थन करते हुये लिखा है कि मन्त्रियों की संख्या निर्धारण में राजा को जितनी आवश्यकता हो और उसकी जितनी सामर्थ्य हो वह उतने ही मन्त्रियों की नियुक्ति करे।[१]

मनु ने मन्त्रि परिषद् में सात अथवा आठ मन्त्री नियुक्त करने का संकेत किया है किन्तु इसके साथ ही उन्होंने मन्त्रियों की योग्यता का प्राविधान भी किया है। महाभारत महाकाव्य में सैंतीस तक की संख्या मन्त्रियों के लिये बतायी गई है किन्तु इसके साथ ही साथ यह भी कहा गया है कि यह संख्या आठ अथवा तीन से कम न हो। अर्थात् राजा कोई मन्त्रणा करे तो वह आठ अथवा तीन मन्त्रियों से कम मन्त्रियों से मन्त्रणा न करे।[२] महर्षि वाल्मीकि भी कुछ इस प्रकार से अपना मन्तव्य व्यक्त करते हैं उनका यह भी मत है कि जब कोई राजा अपना कार्य करना चाहे तो वह तीन अथवा चार मन्त्रियों से परामर्श करके कार्य प्रारम्भ करे। इससे कम मन्त्रियों से परामर्श करके कार्य नहीं करना चाहिये।[३] जहां तक मन्त्रियों से परामर्श लेने की बात है उसमें कौटिल्य का भी यही मत है कि राजा अपना कार्य सम्पादित करने के लिये तीन अथवा चार मन्त्रियों से सम्मति ले सकता है।[४] किन्तु यह संख्या मन्त्रि परिषद् की नहीं है।

आचार्य कौटिल्य ने मन्त्रियों और मन्त्रि परिषद् की आवश्यकता को राजा के लिये निरूपित किया है किन्तु वे मन्त्रियों के योग्य होने पर जोर देते हैं वे लिखते हैं कि मन्त्री ज्ञात विषय का निश्चय करें। निश्चित विषय को स्थायी रूप से दें और मतभेद होने परे संशय का निराकरण करें।

---

१. यथा सामर्थ्यमिति कौटिल्यः। कौ० अ० , पृ० ५७

२. म० भा० शां० ८५/७-९; ८३/४७

३. वा०रा० २/१००/७१

४. कौ० अ०, पृ० ५८

राज्य एवं राष्ट्र :-

प्राचीन समय में जिस भू-भाग को आर्य क्षेत्र कहा जाता था वह इस पृथिवी का एक बहुत बड़ा भू-भाग था। इस भू-भाग की भौगोलिक सीमाओं के लिये यदि कुछ राजनैतिक नामों को जानना है तो वे हैं विश, जन और राष्ट्र।[१] विश से बड़ा वहां पर जन कहा गया है और इसके लिये पञ्च जनाः का कथन है और राजा को जन गोप्ता कहा गया है।[२] ब्राह्मण ग्रन्थों में राज्य के लिये अथवा राष्ट्र के लिये भी सम्भव है कि जनपद शब्द का प्रयोग किया गया हो।[३] एक स्थान पर हिमवान् पर जो क्षेत्र है उसके लिये जनपद शब्द का संकेत है।[४] तब जनपद शब्द का प्रयोग जिस अर्थ में लिया गया हो वह अर्थ जनों की बस्ती के लिये हो सकता है।[५] एक दूसरे स्थान पर जन शब्द सम्पूर्ण देश का द्योतक प्रतीत होता है।[६]

उपनिषदों में जो सन्दर्भ दिये गये हैं उनके अनुसार यह संकेत प्राप्त होता है कि उस समय जो शक्तिशाली जातियां होती थीं उनमें ग्रामों का अन्तर्भाव करके जनपदों का गठन किया जाता था। कहीं-कहीं यह संकेत है कि ग्राम के समुदाय का नाम जनपद कहा गया है।[७] एक विद्वान् ने यह मत व्यक्त किया है कि सम्भवतः प्राचीन समय में जातीय आधार पर ही जनपदों का गठन होता था और जिस जाति का जो जनपद होता था वहां पर उसी जाति का प्रभुत्व होता था।

---

१. हि०स०, पृ० ६६
२. ऋक् १०/८४/२; ३/४३/१२
३. श०ब्रा० १३/४/२/१
४. ऐ० आ० ८/१४/५
५. वृ० उ० २/१/२०
६. तै० ब्रा० २/३/६/६
७. क. ४/२/१

जिस तरह जनपद के सम्बन्ध में प्राचीन विचार देखने को मिलते हैं उसी प्रकार से प्राचीन साहित्य में नगर शब्द का प्रयोग भी हुआ है। एक स्थान पर जानश्रुति के वंश का उल्लेख करते हुये नगरी शब्द को उनके निवास का स्थान कहा गया है।[१] इसी तरह एक उल्लेख नगर शब्द को लेकर एक अन्य प्राचीन सन्दर्भ में भी किया हुआ मिलता है।[२] एक आरण्यक में ग्राम और नगर शब्दों का प्रयोग है और वहां पर उन शब्दों को लेकर उन दोनों के मध्य में भेद भी निरूपित किया गया है।[३] काशी, अयोध्या आदि नगरों का उल्लेख भिन्न-भिन्न स्थानों पर है और उन नगरों के उल्लेख के सहित उनके शासकों की चर्चा भी वहां पर की गई है।[४]

प्राचीन वाङ्मय के सन्दर्भों में राज्य, राष्ट्र और राष्ट्रीयता जैसे शब्दों का प्रयोग भी पृथक्-पृथक् रूप से किया गया है किन्तु इनके प्रयोग में इतना अधिक साम्य है कि इनमें सामान्य रूप से भिन्नता का रेखांकन कर पाना दुष्कर कार्य है। वहां पर राज्य और राष्ट्र शब्द के प्रचलन के सम्बन्ध में यह कहा गया है कि किसी भी सार्वभौम सत्ता के लिये राज्य शब्द का प्रयोग होता था। और सम्भवतः इसकी परम्परा का प्रादुर्भाव विक्रमादित्य से हुआ होगा।[५] आधुनिक राजनीतिक चिन्तक भी यही कहते हैं कि किसी देश अथवा भू-भाग में वहां के निवासियों के ऊपर शासन को राज्य कहते हैं।[६]

---

१. ऐ० ब्रा० ५/२५; १/३०
२. जै० उ० ब्रा० ३/१०/२
३. तै० आ० १/१/११
४. जा० भा० शं०, पृ० ५०-५४
५. वै०को०, पृ० ४४५
६. हि० रा० शा०, पृ० ३५

जिन प्राचीन सन्दर्भों में राष्ट्र शब्द के प्रयोग का संकेत है वहां पर यह कहा गया है कि राष्ट्र की स्थापना में ऋषियों की तपश्चर्या ने महत्वपूर्ण भूमिका अदा की थी; इसलिये राष्ट्र की प्राप्ति अनायास ही नहीं हुई है अपितु इसकी प्राप्ति में तपस्वियों और ऋषियों की अनवरत साधना का योगदान है। इस रूप में राष्ट्र के निर्माण में मानवीय श्रम का परिणाम प्रमुख रूप से दिखाई देता है।[१] अथर्ववेद में एक स्थान पर राष्ट्र शब्द का प्रयोग क्षत्र शब्द के लिये किया गया है अर्थात् राष्ट्र और क्षत्र का प्रयोग एक साथ किया गया है। इससे यह प्रतीति होती है कि शासक और शासन दोनों की सहभागिता एक साथ थी।[२] इसी तरह से एक उदाहरण में राष्ट्र के साथ भूमि, तेज और बल की अवधारणा को चाहा गया है और वहां पर यह कहा गया है कि हमारा राष्ट्र, हमारी भूमि तेज धारण करे और उत्तम बल से सम्भावित हो।[३] इसी तरह से यदि हम राष्ट्र अथवा राष्ट्र से मिलते हुए शब्दों के सन्दर्भों का अवलोकन करें तो वहां पर प्राचीन सन्दर्भों में श्री को राष्ट्र कहा गया है।[४] क्षत्र को राष्ट्र कहा गया है।[५] पुष्टि को राष्ट्र कहा गया है।[६] विश को राष्ट्र कहा गया है[७] और सविता को राष्ट्र के रूप में सम्ब- न्धित किया गया है।[८] इस रूप में वहां पर दिये गये सम्बोधनों के अनुसार राष्ट्र एक विस्तृत कल्पना है जबकि राज्य सम्भवतः उससे छोटा भू-भाग होता है।

---

१. अथर्व० १३/१/३५
२. वही, पृ० १०/३/१२
३. वही, पृ० १२/१/८
४. श० ब्रा० ६/७/३/७
५. ऐ० ब्रा० ७/२२/८
६. श० ब्रा० १३/२/९/८
७. ऐ० ब्रा० ८/२६
८. श० ब्रा० ११/४/३/१४

यदि हम संस्कृत के कोषकारों की ओर देखें और अन्य कोशकारों को भी अवलोकित करें तो वहां पर यह दिखाई देता है कि राष्ट्र शब्द के पर्याय के रूप में जनपद का उल्लेख किया गया है। एक कोशकार ने गौणों के राज्य को उत्तम राज्य कहा है।[१] जबकि एक अंग्रेजी कोषकार राष्ट्र शब्द के पर्याय में किंगडम, एम्पायर, डिस्ट्रिक आदि शब्दों का प्रयोग करता है।[२] एक अन्य हिन्दी शब्द कोषकार राष्ट्र शब्द के लिये राज्य शब्द का पर्याय देता है[३] और यह लिखता है कि वह देश जिसमें किसी निश्चित और विशिष्ट क्षेत्र में रहने वाले लोग जिनकी भाषा एक हो, जिनके रीति रिवाज एक हों और जिनकी विचारधारा एक हो राज्य कहा जाता है।[४] इस रूप में हम देखते हैं कि देश और राष्ट्र लगभग समानार्थक रूप से प्रयोग किये गये हैं और ऐसा प्रतीत होता है कि पुरानी परम्परा में देश और राष्ट्र लगभग पर्यायवाची अथवा समानार्थक थे।[५]

एक अन्य सन्दर्भ इस प्रकार का है जहां पर देश, राष्ट्र, विषय और जनपद शब्दों का पर्यायवाची शब्दों के रूप में उल्लेख है। जबकि कहीं-कहीं विषय को देश का उपविभाग माना गया है किन्तु यह अवश्य प्रतीत होता है कि ये सभी सन्दर्भ अपने-अपने मत के अनुसार विविध लोगों ने दिये हैं और निश्चयात्मक रूप से उन्होंने कुछ नहीं कहा है और यदि कहीं पर कुछ कहा गया है तो उससे यही अनुमान किया जाता है कि विषय सम्भवतः राष्ट्र से बड़ा होता है।

---

१. वाच. (६), पृ० ४८०७
२. सं० इ० डि०, पृ० ४६६
३. वृ० हि० को०, पृ० ११५२
४. मा० हि० को० पृ० ५०५
५. जा० भा० सं०, पृ० ५०; कौ० यु० द०, पृ० ७३

आचार्य कौटिल्य राष्ट्र और नगर के रूप में दो विभाजन करते हैं उनके अनुसार नगर की संरचना की जो स्थिति होती थी उसमें ग्रामों के समूह को नगर कहा जाता था। राष्ट्र स्वाभाविक रूप से इससे बड़ा होता था और सम्भवतः वह किसी राजा के राज्य का द्योतक होता था। आचार्य कौटिल्य ने एक स्थान पर यह लिखा है कि राजा को चाहिये कि वह नगर में ऐसे लोगों को निवास न करने दें जिनसे राष्ट्र तथा नगर का नैतिक, धार्मिक और चारित्रिक विकास न होता हो और जो नैतिक, धार्मिक और चारित्रिक विकास में बाधा बनते हों यदि राजा को ऐसे लोगों को बसाना आवश्यक ही है तो इनको सीमा प्रान्त में बसाना चाहिये और उनसे राज्य का कर वसूल किया जाना चाहिये।[१]

आधुनिक विद्वानों ने भी राष्ट्र शब्द के रूप में विचार किया है और राज्य से उसका समन्वय भी स्थापित किया है। एक विद्वान् यह भी लिखते हैं कि राष्ट्र जन समूह में विद्यमान एकता की उस विशेष भावना का नाम है जो इस समुदाय को साथ रहने और किसी भी बाहरी नियन्त्रण का प्रतिरोध करने के लिये प्रेरित करती है।[२] एक मत यह है कि राष्ट्र के समन्वित रूप में भाषा, धर्म, संस्कृति, इतिहास और साहित्य आदि की एकता होती है।[३] इस रूप में राष्ट्र एक व्यापक और विस्तृत स्वरूप को निर्दिष्ट करता है और इसका विकास धीरे-धीरे समयानुकूल होता है।

---

१. कौ.अ., पृ० ११४
२. रा०वि० सि० (११), पृ० २१
३. रा०वि० भू०त०, पृ० ६६

राज्य और राष्ट्र में साम्य - वैषम्य :-

राज्य और राष्ट्र को लेकर तथा इनके स्वरूप को लेकर प्रारम्भ समय से ही विचार किया जाता रहा है। वहाँ पर यह प्रश्न उपस्थित किया गया है कि राज्य और राष्ट्र में क्या अन्तर है और यदि इन दोनों में कोई अन्तर नहीं है तो फिर इनका पृथक्-पृथक् प्रयोग क्यों किया जाता है। यदि इस सम्बन्ध में हम यह कहना चाहें कि राज्य और राष्ट्र में भिन्नता है तो उसका स्वरूप क्या है और इस भिन्नता को किस तरह से रेखांकित किया जा सकता है।

राष्ट्र सम्बन्धी परिकल्पना प्रारम्भ से ही की गई है और इसे व्यापक रूप में भावनात्मक रूप में निरूपित किया गया है। वैदिक सन्दर्भों में यह कहा गया है कि राष्ट्र में राजा, शूर, महारथी और धनुर्धर होवें।[१] इसी तरह एक अन्य सन्दर्भ में पृथिवी से प्रार्थना करते हुये यह अपेक्षा की गई है कि हमारी यह भूमि इस राष्ट्र को बल और तेज से सम्पन्न करे।[२] नीति परम्परा में आचार्य कामन्दक ने यह लिखा है कि राज्य और राष्ट्र में पर्याप्त भिन्नता होती है। इस भिन्नता को उन्होंने प्रतिपादित करते हुये यह संकेत किया है कि राष्ट्र बड़ा होता है क्योंकि इसी से राज्य के सभी अंगों का उद्भव होता है। इसलिये वे राजा को इस प्रकार का निर्देश करते हैं कि राजा ऐसे सभी प्रकार के प्रयत्न करे जिससे राष्ट्र की बृद्धि होवे।[३]

---

१. तै० सं० ७/५/१८/१

२. अथर्व० १२/१/२

३. का० नी० ६/३

राज्य के सम्बन्ध में जिन विचारों का संकेत पूर्व में किया जा चुका है उस सम्बन्ध में प्राचीन भावों को व्यक्त करते हुये यह लिखा गया है कि किसी सार्वभौम सत्ता के लिये प्राचीन समय में राज्य शब्द का प्रयोग होता था। सम्भव है कि इस परम्परा का प्रचलन विक्रमादित्य से प्रारम्भ हुआ हो।[१] एक दूसरे सन्दर्भ में यह कहा गया है कि किसी देश अथवा भू-भाग में वहाँ के निवासियों के ऊपर किये जाने वाले शासन को राज्य कहते हैं।[२] इस रूप में हम यह कहसकते हैं कि राज्य से किसी के द्वारा शासित भू-भाग का उपलक्षण होता है और राज्य से एक निश्चित तथा अपेक्षाकृत न्यून सीमा वाले भू-भाग को भी जाना जाता है। आचार्य मनु और कौटिल्य ने राज्य के सम्बन्ध में विचार किया है और इसके स्वरूप के सात अंगों का कथन किया है। इन दोनों आचार्यों ने राज्य के इन अंगों को प्रकृति बताया है।[३] कौटिल्य राजा और राज्य में एकता का संकेत करते हैं जिसमें वे एक स्थान पर राजा को ही राज्य कह देते हैं।[४]

कौटिल्य ने राजा की शासन-व्यवस्था की दृष्टि से यह निर्देश किया है कि उसे राष्ट्र को दो भागों में विभक्त कर देना चाहिये। इन दोनों भागों में से एक भाग पुर हो और दूसरा जनपद। पुर का अभिप्राय है नगर तथा राजधानी से और शेष राष्ट्र का अभिप्राय है जनपद से। आचार्य कौटिल्य ने जनपद के विषय में यह लिखा है कि सबसे छोटी बस्ती ग्राम होती है। दस ग्रामों के संगठन का नाम संग्रहण है जहां राजा अपना कार्यालय स्थापित करे।[५]

---

१. वै०को०, पृ० ४४५
२. हि०रा०सा०, पृ० ३५
३. म० स्मृ० ७/१५६; कौ० अ० ६/२
४. कौ० अ० ८/२
५. वही, पृ० ६३

राज्य और राष्ट्र के सम्बन्ध में एक विद्वान् ने यह संकेत किया है कि राज्य उसे कह सकते हैं। जिसमें शासन की प्रधानता हो सकती है अर्थात् कोई भी शासक जिस किसी क्षेत्र पर शासन करता है उसे राज्य कहते हैं। ऐसे भू-भाग में भाषा, संस्कृति, जाति आदि के भाव गौण होते हैं क्योंकि राज्य का क्षेत्रफल विस्तृत नहीं होता। सम्भवतः इसीलिये वहां पर भाषा और संस्कृति को लेकर अधिक चेतना नहीं होती। राज्य की अपेक्षा राष्ट्र अधिक व्यापक भाव वाला होता है तथा उसमें वीरता समृद्धि और सम्पन्नता के अधिक भाव मुखर होते हैं।[१]

निष्कर्ष :-

इस रूप में हम यह देख सकते हैं कि भारत में प्राचीनकाल से ही राजा और राज्य को लेकर विचार होता आया है। इस विचार ने राजा और राज्य को लेकर विमर्श किया है। इस विचार ने राजा की अनिवार्यता को प्रारम्भ से ही स्वीकार किया है और उसके लिये अनेक प्रकार के नियमों और उपनियमों की रचना की जाती रही है। कहीं-कहीं समितियों और सभाओं द्वारा राजा पर नियन्त्रण होता रहा है तो कहीं पर आचारात्मक मानदण्ड गढ़े गये हैं।

इसी तरह से राज्य एवं राष्ट्र की परिकल्पना प्रारम्भिक समय से प्राप्त है और इसमें भी शासन की प्रमुखता के साथ श्रेष्ठ भावों की स्थापना को महत्व दिया गया है। इसमें यह भाव रहा है कि राज्य यदि सुसम्पन्न होगा तो राष्ट्र भी श्रेष्ठ स्वरूप वाला होगा।

---

१. अ० रा०, पृ० ५६
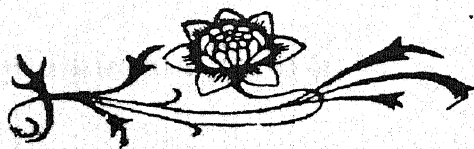
चतुर्थ अध्याय

चतुर्थ अध्याय

(कौटिल्य की दृष्टि में राजा और राज्य)

राजा का स्वरूप, राजा का साधु स्वभावी होना
अमात्यों की नियुक्ति, राज्य कर्मचारी और
उनकी शक्तियाँ, कानून तथा न्याय, गुप्तचरों
की नियुक्ति, राजा के राष्ट्र तथा परराष्ट्र
सम्बन्धी नियम, साम, दाम, दण्ड और भेद का
प्रयोग, शत्रु पर आक्रमण, सन्धि और सन्धि
नियम, जनपद और उनकी स्थापना
दुर्ग निर्माण, कोशगृह और कोषाध्यक्ष
कृषि और व्यापार, राष्ट्र और राज्य, निष्कर्ष।

चतुर्थ अध्याय

(कौटिल्य की दृष्टि में राजा और राज्य)
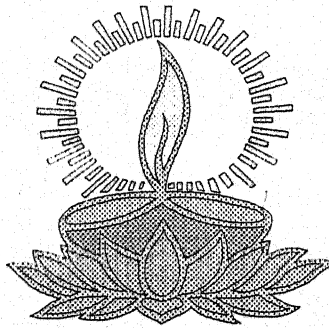
चतुर्थ अध्याय

(कौटिल्य की दृष्टि में राजा और राज्य)

राजा का स्वरूप :-

प्राचीन भारतीय समाज में प्रारम्भ से ही यह विचार होता रहा है कि मनुष्य का इस पृथिवी पर जन्म लेने का क्या अभिप्राय है और वह यहाँ अर्थात् इस पृथिवी पर किस उद्देश्य की पूर्ति के लिये आया है। उसे यहाँ पर क्या प्राप्त करना है और उस प्राप्ति में किसका उपभोग अपने लिये करना है तथा जीवन की अन्तिम अवस्था में किस प्राप्ति के लिये प्रयत्नशील रहना है। यह सब विचार करते समय उस समय ही यह कहा गया था कि मनुष्य का जीवन निरर्थक एवं निरुद्देश्य नहीं है, उसके जीवन का एक विशेष लक्ष्य है और वह इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिये निरन्तर प्रयत्न शील बना रहे यह आवश्यक है। इसे क्या प्राप्त करना है और किस मार्ग से चलना है इस सम्बन्ध में यह कहा गया है कि यह धर्म, अर्थ, काम और मुक्ति को प्राप्त करने के लिये इस भूमि पर आया है और इसे सभी प्रकार से इन्हीं की प्राप्ति करनी चाहिये। इन प्राप्तियों में भी धर्म, अर्थ और काम ऐसी प्राप्तियां हैं जो मनुष्य को इसी जीवन में प्राप्त होती हैं और जो मनुष्य के जीवन के लिये प्राप्तव्य हैं। मुक्ति परम प्राप्ति स्वरूपा होती है। इन्हें पुरुषार्थ चतुष्टय कहा जाता है और यह कहा जाता है कि प्रथम त्रिवर्ग की प्राप्ति से व्यक्ति के लिये मुक्ति का मार्ग सहज और सुलभ हो जाता है। बिना इनकी प्राप्ति के और बिना पुरुषार्थों के मार्ग पर चले व्यक्ति के जीवन की सार्थकता नहीं होती है।

व्यक्ति इन पुरुषार्थों की प्राप्ति सहजता और सुगमता से कर सके तथा इसके लिये उसे किसी प्रकार की बाधा का सामना न करना पड़े एतदर्थ ही प्राचीन समय में राजा की कल्पना की गई होगी। तब राजा से यह अपेक्षा की गई होगी की वह अपनी शक्ति का प्रयोग राज्य संचालन के लिये करे और समाज में ऐसी व्यवस्था बनाये रहे जिससे सभी लोग अपने-अपने दायित्वों का निर्वाह करते हुए पुरुषार्थ चतुष्टय की प्राप्ति कर सकें और समाज में विधिवत् व्यवस्था बनी रहे। प्रारम्भ में यद्यपि यह दायित्व राजा का रहा है तथापि राजा के साथ-साथ तत्कालीन समाज के विचारक भी वैचारिक दृष्टि से राजा को अपना सहयोग देते रहे हैं, विचारक और आचार्य सदा-सर्वदा अपने विशेष विचारों से प्रभावित होकर दिशा निर्देश करते रहे हैं और राजा उस पर चल कर समाज व्यवस्था में अपना सहयोग करता रहा है। इस रूप में राजा का प्रजा के साथ जो सम्बन्ध रहा है वह एक ऐसा सम्बन्ध रहा है जिसे उस सम्बन्ध की तुलना से स्मरण किया गया जो सम्बन्ध पुत्र और पिता के बीच होता है। अर्थात् प्राचीन भारत में राजा और प्रजा के बीच के सम्बन्ध को पिता और पुत्र के सम्बन्ध जैसा देखा गया और यह अपेक्षा की गई कि राजा प्रजा के साथ उसी प्रकार व्यवहार करेगा तथा प्रजा के लिये वह उसी प्रकार से सुख-समृद्धि की कामना करेगा जैसे पिता पुत्र के लिये करता है। यह राजा का राजत्व है और यही उसका श्रेष्ठ स्वरूप है।

प्रत्येक समय में समाज की यह स्थिति होती है कि प्रायः अधिकतम लोग सांस्कृतिक और वैचारिक दृष्टि से अपने जीवन को अच्छे मार्ग पर चलाना चाहते हैं और अपने जीवन के लिये निर्धारित पुरुषार्थ चतुष्टय की प्राप्ति के लिये प्रयत्नशील रहना चाहते हैं। तथापि समाज में कुछ ऐसे लोग भी होते हैं जो विधि व्यवस्था के अनुकूल न स्वयं चलते हैं न समाज को चलने देते हैं। ऐसा करते हुये वे न केवल अपने लिये अभिश्राप बन जाते हैं अपितु वे कभी-कभी अपने इस विकृत व्यवहार से समाज के लिये अभिशप्त हो जाते हैं। उनके इस प्रकार के विकृत व्यवहार से पूरा का पूरा समाज पीड़ित हो जाता है और उनका ऐसा व्यवहार समाज को दिशाहीन करने लगता है। वे अपने व्यवहार से कभी-कभी इतनी अधिक विकृति का प्रदर्शन करते हैं कि समाज उनके सामने असहाय सा हो उठता है और सामाजिक जनों में उनका सामना करने का साहस नहीं होता है। मनुष्य के जीवन के लिये जिन पुरुषार्थों की कल्पना की गई है और जिनकी प्राप्ति का लक्ष्य उनके सामने रखा गया है उसमें भी व्यवधान होने लगता है और पूरा का पूरा समाज उन विकृत व्यवहार वाले लोगों से पीड़ित होने लगता है। इस लिये ऐसे समय में किसी ऐसे व्यक्ति की आवश्यकता अनुभव होने लगती है जो अपने सामर्थ्य से उन दुष्ट तत्त्वों पर नियन्त्रण कर सके और समाज में जो विसंगतियां उत्पन्न हो रहीं हैं उनका निराकरण कर सके। सम्भवतः इसी आवश्यकता की पूर्ति के लिये राजा की कल्पना हुई होगी और किसी ऐसे व्यक्ति का राज्याभिषेक किया गया होगा जो समाज में सुरक्षा और सुशासन दे सके।

प्राचीन साहित्य में राजा के लिये इस प्रकार की कल्पना की गई है। वैदिक साहित्य में अनेक देवताओं को राजा के रूप में परिकल्पित किया गया है। वहाँ पर इन्द्र, वरुण और पूषा आदि ऐसे देवता हैं और शासक के रूप में प्रतिष्ठित हैं उनसे यह अपेक्षा की गई है कि वे प्रजा के कल्याण के लिये प्रयत्नशील हों।[१] वे पूरी तरह से शासन विधान की प्रतिष्ठा करें और प्रजा के जीवन के साथ तादात्म्य स्थापित करें।[२] उनसे यह कल्पना की गई है कि वे चोरों से प्रजा की रक्षा करें और प्रजा के राजा होकर प्रजा का विधि पूर्वक पालन करें।[३]

उस समय राजा का जब चयन किया जाता था तो उसी समय एक प्रकार का सन्देश उसे दिया जाता था, जिसमें यह कहा जाता है कि वही राजा वन्दनीय और वरेण्य है जो प्रजा के अभ्युदय के लिये काम करे। जब राजा का अभिषेक होता था तो प्रजा उससे यह अपेक्षा करती थी कि जिस प्रकार वर्षा से सम्पूर्ण प्रजा का हित सम्पादन होता है राजा भी उसी प्रकार से हमारा हित सम्पादन करे। राजा के उसी स्वरूप को ध्यान में रखकर एक स्थान पर यह कहा गया है कि राजा राष्ट्रभृत अर्थात् सम्पूर्ण राष्ट्र का भरण-पोषण करने वाला है।[४]

राजा न केवल प्रजा के हित की चिन्ता करता था अपितु वह सत्य का पालक होता था, धर्म का रक्षक होता था अर्थात् वह अपने जीवन में स्वयं सत्य का पालन करता था और धर्म की रक्षा में निरत रहता था। उसके इस व्यवहार से प्रजा भी ऐसा ही करती थी।[५]

---

१. ऋक् ५/८५/३
२. वही, २/२८/६
३. वही, २/२८/०
४. श० ब्रा० ४/५/४/१४; ८/३/३/११
५. ऐ० ब्रा० ८/६

वेदोत्तर काल में भी राजा की परिकल्पना है और उसके लिये भी यही कहा गया है कि राजा की राजनीति अन्य कुछ नहीं है अपितु उसके वही कर्तव्य हैं जो प्रजा के लिये हितकारी होवें। महर्षि वेदव्यास ने और महर्षि बाल्मीकि ने यह लिखा है कि राजा निरन्तर सावधान होकर उनके लिये दण्ड की व्यवस्था करता था, जो पाप के मार्ग पर चलते थे। राजा अनाथों के और वृद्धों के आंसू पोछता था अर्थात् राजा अपने व्यवहार से और शासन से यह प्रयत्न करता था कि उसके राज्य में कोई वृद्ध पीड़ित न हो और कोई भी ऐसा न हो जो निराश्रित रहता हुआ दुखी रहे। वह निराश्रितों का आश्रय बन जाता था और वृद्धों का सहायक होता था। उस समय राजा के जो शत्रु होते थे वह उन शत्रुओं के विनाश करने का प्रयास करता था और जो साधु स्वभावी होता था उसकी रक्षा करता था।[१]

इसी तरह से महर्षि वाल्मीकि ने राजा के लिये यह निर्देश किया है कि वह अपने धर्म का पालन करे, अपने लिये निर्धारित पथ पर चले और चारों वर्णों के अनुसार जो कर्तव्य और आचरण होते हैं समाज में जो भी कोई अपने कर्तव्यों का पालन न करता हो अथवा समाज की व्यवस्था को भंग करता हो; राजा को चाहिये कि वह उनके लिये दण्ड की व्यवस्था करे।[२]

---

१. म० भा० शां० प० ६६ वाँ अध्याय; वा० रा० उ० काण्ड ५६/१०
२. वा० रा० सु० का० ३५/११; बालकाण्ड २५/१७

आचार्य कौटिल्य ने भी राजा के लिये उनके कर्तव्यों का निर्धारण किया है और यह लिखा है कि राजा सभी वर्णों और आश्रमों के लिये जिन कर्तव्यों का कथन किया गया है उनका पालन स्वयं करें तथा प्रजा से भी उनका पालन करावें। आश्रमों और वर्णों के लिये जिन कर्तव्यों का वर्णन है आचार्य कौटिल्य उन्हें उनका धर्म मानते हैं इसलिये वे यह कहते हैं कि अपने-अपने कर्तव्य का पालन धर्म का पालन है। राजा प्रजा से ऐसा कार्य करावें कि वह अपने कर्तव्यों का पालन करती हुई धर्म का पालन करे।[१]

राजा के लिये कौटिल्य यहाँ तक विधान करते हैंकि कोई संन्यासी यदि अपथ पर चलता है तो राजा उस पर नियन्त्रण करता हुआ उसे सुपथ पर चलाने का अधिकार रखता है क्योंकि राजा युग- प्रवर्तक है। कौटिल्य की यह स्पष्ट मान्यता है कि चारों वर्णों और चारों आश्रमों के लोग तभी तक अपने कर्तव्यों का पालन करते हैं जब तक तुम्हें राजा द्वारा दिये गये दण्ड का भय होता है। राजा द्वारा दिया गया दण्ड न तो प्रजा को भयभीत करने वाला होता है और न ही उसके द्वारा दिया गया दण्ड राजा की किसी इच्छा की पूर्ति के लिये होता है। राजा के द्वारा की गई दण्ड व्यवस्था से चारों वर्णों और आश्रमों के लोग अपने-अपने कर्म पथ पर निरत होकर चलते हैं और इस तरह समाज की व्यवस्था बनी रहती है।[२] इस प्रकार से राजा अपनी व्यवस्था से ही समाज में प्रभावी होता है और उसके प्रभाव से समाज का संचालन सुव्यवस्थित रूप से चल पाता है।

---

१. कौ० अ० ३/१

२. वही, १/४/१६

राजा का साधु स्वभावी होना :-

भारत की प्राचीन परम्परा में व्यक्ति के आचार पर बहुत अधिक जोर दिया गया था। तब यह कहा गया था कि मनुष्य के जीवन में आचार उसके लिये श्रेष्ठ है और उसकी यह श्रेष्ठता इस रूप में विशिष्ट है जैसे धर्म की विशेषता होती है। अर्थात् आचार धर्म ही है अपितु आचार को परम धर्म भी कहा गया है। महर्षि मनु ने अपनी मनुस्मृति में यह लिखा है कि आचार परम धर्म है इसलिये ज्ञानी और विवेकी जनों को सदा ही आचार से परिपूर्ण होना चाहिये।[१] महर्षि ने इस क्रम में धर्म की व्याख्या की और उस धर्म में वेदों के ज्ञान को, वेदज्ञों की स्मृति को, उनके शील को सज्जनों के आचार तथा हृदय की प्रसन्नता को धर्म का मूल कहा है। वेद स्मृति सदाचार तथा आत्मप्रियता धर्म के लक्षण एवं गुण हैं।[२]

आचार और धर्म की इस महत्ता को स्थापित करते हुये वहां पर यह निरूपण है कि ऐसे श्रेष्ठ आचरण युक्त व्यवहार से वह समाज अग्रगामी होता है अर्थात् वह अपने आचार युक्त व्यवहार से समाज का दिशा निर्देश करता है। उस व्यक्ति के आचारवान् व्यवहार को देखकर लोक उससे प्रभावित होता है और लोक जन उसी तरह का आचरण करने का प्रयत्न करता है। इसलिये आचारवान् लोग समाज के लिये आदर्श होते हैं और विद्वान् यह मत व्यक्त करते हैं कि जब समाज के अग्रगामी लोग आगे रहकर अपने आचार से समाज का प्रशिक्षण करते हैं तब लोक भी आचारवान् बना रहता है।

---

१. म० स्मृ० २/१०८

२. वेदोऽखिलो धर्म मूलं स्मृतिशीले च तद्विदाम्।
आचारश्चैव साधूनामात्मनस्तुष्टिरेव च।।
वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद् धर्मस्य लक्षणम्।। वही. २/६

आचार्य कौटिल्य ने अपने कौटिलीय अर्थशास्त्र में इसी प्रकार के विचार व्यक्त किये हैं। यद्यपि वे राजनीति पर अपना ग्रन्थ लिखते हैं और उनके निर्देश प्रायः राजा के लिये होते हैं किन्तु इसका अभिप्राय यह नहीं है कि आचार का जो व्यवहार राजा के लिये निर्देशित है उसका पालन केवल राजा को करना है। आचार का पालन प्रजा के लिये भी उतना ही महत्वपूर्ण है जितना राजा के लिये महत्वपूर्ण है। कौटिल्य ने राजा के लिये आचारवान् बने रहने का जो निर्देश किया है उसके पीछे यही अभिप्राय है कि राजा समाज का नेतृत्व करता है। वह समाज का अग्रगामी होता है, समाज उसे देखकर ही अपनी जीवनचर्या को निधारित करता है; इसलिये आचार्य कौटिल्य द्वारा राजा के लिये आचार का निर्देश देने का अभिप्राय यह है कि राजा यदि आचार का पालन करेगा तो सम्पूर्ण समाज भी उसका पालन करता हुआ अपना जीवन व्यतीत करेगा। वे राजा के लिये यह लिखते हैं कि राजा अपनी इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करके पवित्रता-पूर्वक अपना जीवन जिये, जिससे समाज उसका अनुकरण करके अपने जीवन को पवित्र बना सके और आचारवान् बना सके। राजा अपने जीवन में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की प्राप्ति के प्रति प्रयत्नशील रहे। वह इन चतुर्वर्गों की प्राप्ति करे, सतत् इनके लिये प्रयत्नशील रहकर समाज का एक ऐसा आदर्श पुरुष बने जिससे समाज उसका अनुकरण कर सके और समाज भी एक आदर्श स्थिति में स्थिर हो सके।

आचार्य कौटिल्य ने राजा के लिये साधु-स्वभावी होने का निर्देश किया है। उन्होंने लिखा है कि राजा काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मात्सर्य आदि का परित्याग करे तथा वह सम्पूर्ण रूप से अपनी इन्द्रियों पर विजय प्राप्त कर लेवें। अर्थात् राजा की इन्द्रियां किसी प्रकार के विकार की ओर न बढ़ें और न ही उनके मन में किसी प्रकार का लोभ और काम आवे। राजा निरन्तर यह प्रयत्न करे कि उसकी संगति विद्वानों से हो जिससे उसकी बुद्धि का विकास होता रहे। राजा बुद्धिमान होकर विद्वान् होकर सदा शिक्षा के प्रचार-प्रसार में लगा रहे, विनयशील होवे और प्रजा को शिक्षित बनावें। अर्थात् राजा विद्वानों की संगति से स्वयं बुद्धिमान बने और ऐसी शिक्षा-दीक्षा के लिये व्यवस्था करें जिससे उसकी प्रजा भी विद्वान् बन सके। राजा स्वयं विनयी हो अर्थात् विनय के स्वभाव का व्यवहार करने वाला हो और प्रजा भी उसी तरह से विनय के स्वभाव पर चलने वाली हो। इस स्वभाव से युक्त होकर राजा दूसरे के हित सम्पादन में सदा निरत रहें।[१]

राजा के लिये आचार्य कौटिल्य ने लिखा है कि वह इन्द्रियों को अपने वश में रखे और कभी भी दूसरों स्थिति के प्रति दुर्भाव मन में न लायें और हिंसा वृत्ति से भी निरत रहें। इस रूप में वह कठोरता पूर्वक अपनी दिनचर्या को संचालित करें।

---

१. कौ० अ० ३/६/१

आचार्य कौटिल्य ने यह भी लिखा है कि राजा असमय में शयन न करे, चंचलता का प्रदर्शन न करे, कभी झूठ न बोलें और अविनय की प्रवृत्ति का प्रदर्शन न करें। राजा को चाहिये कि वह कभी भी अधर्म का आचरण न करें अर्थात् अधर्म के पथ पर न चलें और कभी भी ऐसा व्यवहार न करें जिसका परिणाम अनर्थकारी होता हो। अर्थात् शक्ति सम्पन्न होता हुआ राजा भी अनर्थ व्यवहार से सदा दूर रहे।[1]

इस रूप में राजा विद्वान् हो, नीतिवान हो, चरित्रवान हो, सन्मार्ग पर चलने वाला हो और विनयी हो। उसके लिये वह आवश्यक है कि वह इन गुणों से युक्त होकर प्रजा के लिये आदर्श बने और इसी से उसकी प्रजा भी आदर्श व्यवहार का परिपालन कर सके।

अमात्यों की नियुक्ति :-

राजा के राज्य संचालन के लिये अमात्यों के महत्त्व को सभी ने स्वीकार किया है और इस रूप में आचार्य कौटिल्य ने भी अमात्यों की नियुक्ति को लेकर अपना मन्तव्य व्यक्त किया है। आचार्य कौटिल्य अमात्यों और मंत्री में भेद करते हैं। वैदिक साहित्य में ही पुरोहितों का संकेत है और यह कहा गया है कि पुरोहित का अर्थ अपने यजमान का हित सम्पादन करना होता है। इस रूप में अमात्य अपने राजा के हित में सदा संलग्न रहता है। आचार्य कौटिल्य ने जब अमात्य नियुक्ति पर विचार किया है तो उन्होंने अपने पूर्ववर्ती अनेक आचार्यों के मतों का उल्लेख किया है। इनमें से वे आचार्य भरद्वाज के मत का उल्लेख करते हैं।

---

१. एवंवशेन्द्रिय परस्त्री द्रव्यहिंसाश्चवजर्येत् ।
स्वप्नं लौल्यमनृतमुद्धतवेशत्वनार्य संयोगंच।
अधर्मसंयुक्तमानर्थसंयुक्तं च व्यवहारम्। कौ०अ० पृ० २३

वे लिखते हैं कि राजा अपने सहपाठियों को भी अमात्य पद पर नियुक्त करे। वे अपने इस मन्तव्य के समर्थन में यह तर्क देते हैं कि राजा अपने सहपाठियों की पवित्रता, उनके हृदय की विशालता और कार्य क्षमता से परिचित होता है इस लिये वे राजा के विश्वास पात्र हो सकते हैं। एक दूसरे आचार्य का मन्तव्य देकर कौटिल्य ने यह कहा है कि आचार्य विशालाक्ष यह मत ठीक नहीं मानते। वे यह समझते हैं कि ऐसा करने से राजा के सहपाठी सम्भव है कि राजा का तिरष्कार करें और राजा को राज्य संचालन में कठिनाई हो, इसलिये राजा उन्हें अमात्य बनाये जो राजा के गुप्त कार्यों में सहयोगी रहे हों। महर्षि पराशर इन दोनों मतों से सहमत नहीं हैं। वे यह कहते हैं कि ये दोनों प्रकार के लोग राजा के साथ अपने स्वार्थ के लिये दुर्व्यवहार कर सकते हैं इसलिये राजा उनको अमात्य पद पर नियुक्त करे जिन्होंने कभी राजा की आपत्तियों में उसका सहयोग किया हो। वे इस मत के समर्थन में यह तर्क देते हैं कि ऐसे लोग राजा के प्रति पूर्व से ही अनुरक्त होते हैं। आचार्य कौणपदन्त के उस मत का उल्लेख भी कौटिल्य ने किया है जिसमें कौणपदन्त ने यह लिखा है कि जो लोग राजा के प्रति भक्ति भाव वाले होते हैं वे अमात्यों के लिये निर्धारित गुणों से शून्य होते हैं। इस लिये राजा को चाहिये कि राजा उन लोगों को अमात्य पद पर नियुक्त होते रहे हों। वे परम्परा से अमात्य पद पर नियुक्त करे जो परम्परा से ही राजा की रीति नीति जानते हैं और कभी भी राजा को छोड़ते नहीं हैं।[1]

---

१. पितृपैतामहानमात्यान्कुर्वीत्, दृष्टापदानत्वात्।
कौ०अ०, पृ० २६

आचार्य कौणपदन्त के मत का समर्थन भी दूसरे आचार्य नहीं करते। वे अपना मत व्यक्त करते हैं कि ऐसे अमात्यों की नियुक्ति करने पर वे अमात्य राजा के सर्वस्व को अपने अधीन करके राजा की समान वृत्ति वाले हो जायेंगे। अर्थात् वे राजा की पारम्परिक स्थिति से परिचित होंगे और उस स्थिति का लाभ उठाते हुये राजा के अधिकारों का अतिक्रमण करने लगेंगे; इसलिये राजा को चाहिये कि वह ऐसे नये व्यक्तियों को अमात्य पद पर नियुक्त करें जो अमात्य के गुणों से परिचित हों और जो अमात्य पद के कार्य–व्यवहार को जानते हों। ऐसे व्यक्ति कभी भी राजा की मर्यादा का अतिक्रमण नहीं करेंगे और सदा राजा के दण्ड से भयभीत रहेंगे।

एक दूसरे आचार्य जिन्हें आचार्य कौटिल्य ने बाहुदन्ती पुत्र के रूप में उद्घृत किया है यह कहते हैं कि नीतिशास्त्र में पारंगत विद्वान् व्यक्ति को अमात्य पद पर नियुक्त करना ठीक है। सम्भव है ऐसा व्यक्ति सभी प्रकार की नीतियाँ जानता हो और वह उन नीतियों को लागू करने में सक्षम हों; किन्तु ऐसे लोग अमात्य पद के क्रियात्मक अनुभव से शून्य होंगे और उनके लिये मन्त्री पद के दायित्वों का निर्वाह करना कठिन होगा। इसलिये बाहुदन्ती पुत्र का यह मत है कि जो व्यक्ति नीतिशास्त्र को जानता हो, विद्वान्, चतुर और समझदार हो तथा जिसे मन्त्री पद के कार्यों का क्रियात्मक ज्ञान हो उसे अमात्य पद पर नियुक्त किया जाना चाहिये। इससे इतर व्यक्ति यदि राजभक्त नहीं हैं और उसमें गुणों की प्रधानता नहीं है तो वह अमात्य पद के कार्यों का निर्वाह ठीक से नहीं कर सकेगा।

आचार्य कौटिल्य ने अपने ग्रन्थ कौटिलीय अर्थशास्त्र में जिन मतों को उद्धृत किया है उनके विषय में यह कहा है कि उन-उन आचार्यों के मत अपने-अपने स्थान पर ठीक हैं किन्तु किसी भी पुरुष का सार्मथ्य तब तक नहीं जाना जा सकता जब तक कि उसके द्वारा किये गये कार्यों की सफलता न देख ली जाये। अर्थात् किसी भी व्यक्ति के विषय में उसकी योग्यता का आकलन तभी हो सकता है जब कि उसके कार्यों की सफलता-असफलता का आकलन हो जाये। यह स्वभाविक है कि जो व्यक्ति अपने द्वारा सम्पादित किये जाने वाले जितने कार्यों में सफल होगा उसकी योग्यता उतनी ही मात्रा में प्रमाणित होगी।

इसलिये आचार्य कौटिल्य का यह मत है कि राजा कभी भी अपने सह पाठी साथी की अवहेलना न करे। वह जिसे अमात्य पद पर नियुक्त कर रहा है उसकी विद्या का विचार करे, उसके बुद्धि कौशल का विचार करें, उसके साहस का विचार करें, उसके गुण दोषों का भी विचार करें। अर्थात् राजा जिस किसी को भी अमात्य पद पर नियुक्त करना चाहता हो उसके गुण, दोष, देश काल आदि का विचार करके उसे अमात्य पद पर नियुक्त करें।[१]

इस रूप में आचार्य कौटिल्य अमात्यों की नियुक्ति के सम्बन्ध में पर्याप्त विचार करते हुये पूर्वाचार्यों के मत को महत्त्व देकर अपने मत की प्रतिष्ठा करते हैं और यह स्पष्ट करते हैं कि अमात्यों में गुणज्ञता, बुद्धिमत्ता और सक्षमता होनी चाहिये।

१.सर्वमुपन्नमिति कौटिल्यः। कार्यसामर्थ्याद्धि पुरुषसामर्थ्य कल्प्यते सामर्थ्यतश्च।
विभाज्यामात्य विभवं देशकालौ च कर्म च।
अमात्याः सर्व एवैत कार्याः स्युर्न तु मन्त्रिणाः।। कौ० अ० पृ० २७

राज्य कर्मचारी और उनकी शक्तियां:-

राजा और राज्य दोनों का सामञ्जस्य विधिवत् बना रहे इसके लिए प्रारम्भ से ही राजा के कुछ सहायकों का प्रविधान होता रहा है। प्रारम्भिक काल में भी हम देख सकते हैं कि राजा अपनी सहायता के लिए और राज्य संचालन के कार्यों के लिए अपने कुछ सहायकों तथा कर्मचारियों की नियुक्ति करता रहा है। इनकी नियुक्ति कैसे होती थी और इन्हें किस प्रकार की शक्तियाँ प्राप्त थीं इसका विवरण प्रारम्भिक काल में तो नहीं मिलता किन्तु बाद के समय में इसकी विधिवत् व्यवस्था देखने को उपलब्ध होती है। प्रारम्भ में जो व्यवस्था थी उसका संकेत केवल इतना ही प्राप्त होता है, जिसमें यह कहा गया है कि तब राजा को परामर्श देने के लिए एक परामर्शदाता मण्डल होता था, जिसे रत्मिन कहा जाता था। वह अवसर आने पर राजा के विशेष कार्य में सहयोग करने के लिए समय-समय पर राजा को परामर्श देता था।[1]

राजा के लिए जिन कार्यों का निर्धारण किया गया है और उसके लिए जिस क्षेत्र का विधान है वह एक व्यापक क्षेत्र है। उस क्षेत्र का कार्य देखने के लिए उसमें सहयोग करने के लिए वहाँ पर संचालित होने वाली योजनाओं की परिपूर्णता के लिए यह आवश्यक है कि राजा का कोई न कोई आधार हो इसलिए ऐसा आधार प्रारम्भ में था। इसके सम्बन्ध में एक विद्वान् ने यह मत व्यक्त किया है कि राज्य कार्य का सम्पादन करने के लिए केवल राजा ही सक्षम नहीं होता था अपितु एक समूह ऐसा था जो राजा का सहयोग करता था और जिसे राजन्य कहते थे।[2]

---

१. हि. पा. १६६-१६७

२. वे. का. दा. व्या., पृ. ६७

एक विचार इस प्रकार का भी व्यक्त किया गया है कि सूत्रकाल में गाँवों के साथ-साथ नगरों में भी स्थाई शासन व्यवस्था हुई। इसमें यह कहा गया है कि जो पदाधिकारी नगर में होते थे और नगर की अध्यक्षता करते थे उनका अधिकार नगर के चारों ओर एक योजना दूर तक था। जो गाँव का मुखिया होता था उसका शासन गाँव के चारों ओर एक कोश तक था। इस क्षेत्र की शान्ति व्यवस्था का दायित्व इन्हीं के ऊपर होता था। इसमें यह तक संकेत किया गया है कि इनके शासन क्षेत्र में यदि चोरी आदि होती थी और उसका पता नहीं चल पाता था तो उसकी भरपाई नगर और गाँव के पदाधिकारियों को करनी होती थी अर्थात् इनके शासन में जो सामान चोरी में गया होता था उसे इन पदाधिकारियों को देना होता था।[१]

वेदोत्तर काल में जो संकेत हैं उन संकेतों के अनुसार यह कहा गया है कि राजा के कार्य की सहायता के लिए तब अनेक पदाधिकारी होते थे। उस समय के शासन की प्रान्तों को गाँव की इकाई के रूप में और नगर की इकाई के रूप में विभाजित किया जाता था। यद्यपि तब नगरों की व्यवस्था के लिए राजा पर्याप्त रूप से सतर्क होता था तथापि सम्पूर्ण व्यवस्था के लिए सेना भी नियुक्त रहती थी।[२] इसी तरह से महाभारत के अन्य स्थानों का संकेत भी लिया जा सकता है जिसमें यह कहा गया है कि एक से हजार गाँवों तक की व्यवस्था के लिए अधिपति नायक होता था। वह एक ऐसा पदाधिकारी था जो सचिव से मिलकर कार्य करता था।

---

१. प्रा. भा. सा. शां. भू., पृ. ५५१
२. म. भा. स. पं., पंचम अध्याय

इनके कार्यों में यह कहा गया है कि ये गाँव की स्वच्छता, सड़क निर्माण जलाशय की व्यवस्था और सभाभवन के निर्माण के प्रति उत्तरदायी होते थे।[1]

वाल्मीकि रामायण में महाराज दशरथ और रावण के कर्मचारियों के कर्त्तव्यों तथा अधिकारों का जिस प्रकार से संकेत किया गया है उसके अनुसार राजा जिन श्रेष्ठ मन्त्रियों को नियोजित करता था उन्हें गुरवः कहा जाता था। वे राजा के लिए आदर्श रूप होते थे। और जब भी राजा के सामने विशेष परिस्थिति उत्पन्न होती थी तब राजा इन्हीं लोगों से मन्त्रणा करता था।[2] एक स्थान पर ऐसा संकेत किया हुआ प्रतीत होता है कि तब राजा जिस मन्त्रिमण्डल का गठन करता था उसका आकार बड़ा नहीं होता था और यह गठन भी तब सम्भवतः आचार्य मनु और शुक्राचार्य के अनुसार होता था।[3]

संस्कृत महाकाव्य परम्परा में यह संकेत है कि उस समय राजा के साथ मन्त्री और कर्मचारी तो होते थे किन्तु कौन क्या कार्य करता था और किसके लिए क्या कार्य विभाजन किया गया था इसका कोई अनुमान नहीं है। एक विद्वान् ने अवश्य यह अनुमान करने का प्रयत्न किया है और उस प्रयत्न में, अमात्यों के नामों के आधार पर उनका कार्य विभाजन करने का प्रयत्न किया है और उनके पास क्या शक्तियाँ थीं यह अनुमान लगाया है।[4] किन्तु यह सब बहुत अधिक प्रभाविक इसलिए नहीं है क्योंकि वहाँ पर जो भी संकेत हैं वे स्पष्ट नहीं हैं इसलिए उन संकेतों से स्पष्टता के साथ किसी विशेष मत की स्थापना नहीं की जा सकती।

---

१. म. भा.,शान्ति पर्व ८८-३-१०
२. वा. रा. बालकाण्ड ४,८
३. वही, ७,३ मनु. स्मृ. ७/५४ शु. नी. २/७१-७४
४. वा. रा. रा. वि, पृ० १०६

तब के समय में राजाओं के मन्त्रियों की जिन शक्तियों का संकेत किया गया है उनसे यह ज्ञात होता है कि तब मन्त्री राज्य में शान्ति व्यवस्था बनाए रखने के लिए उत्तरदायी होते थे। अर्थात् तब मन्त्रीगण यह व्यवस्था रखते थे, जिससे राज्य में राजकीय व्यवस्था का संचालन भली प्रकार से होता रहे। इसके लिए वे गुप्तचरों की सहायता लेते थे। उनके अधिकारों में दण्ड–व्यवस्था का अधिकार भी सम्मिलित था किन्तु उसमें भी यह व्यवस्था थी कि वे अपराध के अनुरूप ही दण्ड की व्यवस्था करें।[१]

राजा अपने राज्य के सफल संचालन के लिए सेना का संगठन करता था। सेना के माध्यम से ही वह शासन करता था और अपने शत्रुओं पर विजय प्राप्त करता था। शत्रुओं के आक्रमण से राज्य और राजा की रक्षा होती रहे इसके लिए सेना की जो व्यवस्था होती थी उसमें मन्त्री राजा का सहयोग करते थे।[२] इसी तरह से राज्य खर्चो को चलाने के लिए राजकोश की स्थापना होती थी। राजकोश की स्थापना में भी मन्त्रिगण उत्तरदायी होते थे और इस कोश में जमा किये जाने वाले जिस धन का संग्रह होता था उसमें भी मन्त्रिगण सहयोगी होते थे और मन्त्रियों का यह उत्तरदायित्व होता था कि वे इस प्रकार से कोश संग्रह करें जिससे राज्यकार्यों का विधिवत् संचालन हो सके।[३] इस रूप में किसी न किसी रूप की व्यवस्था तो थी किन्तु यह व्यवस्था इतनी स्पष्ट नहीं हो सकी कि उसका विधिवत् आकलन किया जा सके।

---

१. वा. रा. बालकाण्ड, ७।१५, ७।१२, ७।१३, ७।६.
२. वही, ७।११
३. वही. ७।११–१३

आचार्य कौटिल्य ने राजा के साथ काम करने वाले अथवा राज्य व्यवस्था में सहयोग करने वाले कर्मचारियों में सबसे पहले मन्त्रियों की चर्चा की है। उन्होंने राजा की मन्त्रि सभा को मन्त्रिपरिषद् का नाम दिया है और राजा के लिए यह निर्देश किया है कि वह बिना मन्त्रिपरिषद् की सलाह लिए कोई भी काम न करें। अर्थात् जब भी वह किसी प्रकार का राज्य कार्य प्रारम्भ करें तब मन्त्रिपरिषद् से सलाह अवश्य लें लेवें और मन्त्रिपरिषद् की सलाह से ही कार्यारम्भ करें।[१] इस सम्बन्ध में हम यह देख सकते हैं कि आचार्य कौटिल्य की यह अवधारणा महर्षि मनु और याज्ञवल्क्य से मिलती जुलती है क्योंकि इन दोनों आचार्यों का भी यह अभिमत है कि राजा राज्य कार्य करता हुआ अपने कार्यों के सम्पादन के लिए मन्त्रिपरिषद् की सलाह आवश्यक रूप से प्राप्त करें।[२] इस रूप में यह कहना संगत होगा कि उस समय के समाज में राज व्यवस्था में मन्त्रियों का महत्त्व अधिकतम रूप में था और वे अधिकार सम्पन्न थे। उनकी इसी अधिकार सम्पन्नता के कारण ही राजा के लिए यह निर्देश था वह मन्त्रिपरिषद् की सलाह लेकर ही कार्य करें।

आचार्य कौटिल्य ने राजा और मंत्री दोनों को राज्य कार्यों के सम्पादन के लिए महत्वपूर्ण माना है और उन्होंने इनके महत्त्व को इस रूप में स्वीकर किया है जिसमें यह कहा गया है कि राजा और मन्त्री राज्य रूपी गाड़ी के दो पहिये हैं। इन दोनों में से यदि एक भी सक्षम नहीं है, सबल नहीं है अथवा अपनी योगता और सामर्थ्य से राज्य कार्य

१. कौ. अ., पृ. ५८
२. म. स्मृ. ७।३०-३१ : पा. स्मृ. १।३११

सम्पादित नहीं करता तो राज्य विकास नहीं कर सकता और राज्य में विधि व्यवस्था भी विधिवत नहीं हो सकती । राजा के साथ-साथ मन्त्री की महत्ता इसलिए भी है क्योंकि मन्त्री ही राजा के लिए ऐसा सहायक है जो राजा पर अथवा राज्य पर आयी हुई विपत्ति के समय उसकी सहायता कर सकता है अथवा राजा के प्रमाद के समय उसे सावधान कर सकता है।[१]

आचार्य कौटिल्य ने मन्त्रियों के चार विभाग किये हैं। अर्थात् उन्होंने चार प्रकार के मन्त्रियों का स्वरूप निरूपित किया है। ये चारों हैं- मन्त्री, पुरोहित, सेनापति और युवराज। इनके साथ-साथ जनपदों का भी उल्लेख वैसा ही किया है जैसा मन्त्रियों का किया जाता है।[२] मन्त्रियों के इस विभाजन को देखकर यह प्रतीत होता है कि कौटिल्य का यह विभाजन उसकी ज्येष्ठता और वरिष्ठता को देखकर किया गया है। इनमें से जो जिस योग्य होता था राजा उसको उसी प्रकार का महत्त्व देता था और मन्त्री परिषद् में उसकी सलाह को भी पर्याप्त मात्रा में महत्त्व मिलता था।

इस मन्त्रि परिषद् का इतना व्यापक आधिकारिक क्षेत्र था जिसमें केवल राजा ही नहीं होता था अपितु कार्य परिषद् के क्षेत्र, राष्ट्र के अन्य विविध कार्य, अनेक विभागों के अध्यक्ष और उनकी रीति-नीति भी सम्मिलित थी। इससे यह प्रतीत होता है कि राजा के पश्चात् यदि राज्य संचालन के लिए अन्य कोई उत्तरदायी था तो वह मन्त्रिपरिषद् ही थी और इसमें महत्त्वपूर्ण अधिकार सुरक्षित थे।

---

१. कौ. अ., पृ. २४
२. वही, पृ. ४०

कौटिल्य ने अपनी शासन व्यवस्था के सम्बन्ध में अन्य अनेक कर्मचारियों का भी उल्लेख किया है। इसमें ज्ञान के मुखिया गोप, स्थानिक और नागरिक होते थे। इनके ऊपर देख-रेख के लिए जिस अधिकारी की नियुक्ति की जाती है उसे समाहर्ता कहा जाता था। समाहर्ता के लिए यह कहा गया है कि वह दुर्ग, राष्ट्र, खनि, सेतु, वन और व्यापार कार्यों का निरीक्षण करता रहे।[२] इस रूप में कौटिल्य ने जितने भी अधिकारियों का वर्णन किया है उनके लिए यह आवश्यक था कि वे अपने-अपने लिए निर्धारित कर्तव्यों का पालन करते रहें।

राजा के राज्य संचालन में न केवल मन्त्रिपरिषद् ही सम्मिलित था अपितु अनेक विभागों में काम करने वाले अनेक प्रकार के कर्मचारियों का उल्लेख भी राज्य शासन के लिए कियागया है। वहाँ पर इनकी जो नामावली दी गई है उसमें मन्त्रि, पुरोहित, सेनापति, युवराज, दौआरिक, अंतरवंशिक, प्रशस्त्रि, समाहर्ता, सन्निधाता, प्रटेष्टा, नायक, पौर, व्यावहारिक, कारमान्तिक, सम्य, दण्डपात, अन्तपाल और दुर्गपाल गिनाये गये हैं।

इस रूप में आचार्य कौटिल्य ने जिन अधिकारियों और कर्मचारियों का नाम दिया है उनके लिए निर्धारित कर्तव्यों का उल्लेख भी किया है। साथ ही आचार्य ने राजा के लिए यह भी कहा है कि कर्मचारी समुचित रीति से अपने कर्तव्य का पालन नहीं करता वह दण्ड का भागीदार है।

---

१. समाहर्ता दुर्ग राष्ट्रं खनिं सेतुं बनं व्रजं वणिक प्रथम चावेक्षेत। कौ. अ., पृ. ११८

२. वही, भू. पृ. ३४

उपरिलिखित कर्मचारियों में समाहर्ता, कोषाध्यक्ष, आयुधाकार, अध्यक्ष, सेनापति आदि ऐसे महत्वपूर्ण अधिकारी हैं जिनके पद नाम से ही यह प्रतीत होता है कि ये महत्वपूर्ण कार्यों के प्रति उत्तरदायी थे और राज्य संचालन में इनकी महत्वपूर्ण भूमिका होती थी। इस रूप में यह भी कह सकते हैं कि मन्त्रियों के पश्चात् यदि कोई अधिकारी सक्षम थे तो वे यही अधिकारी थे।

कौटिलीय अर्थशास्त्र में इन पदाधिकारियों के लिए निर्धारित कर्तव्यों का कथन भी किया गया है। इस कथन में कोषागार अध्यक्ष के लिए यह कहा गया है कि वह कोष गृह का निर्माण कराये, पण्य गृह का निर्माण कराये और अपनी देख-रेख में कोष्ठागार का निर्माण कराये। वह वस्तु विशेषज्ञों की सलाह ले और राज्य के लिए रत्न, चन्दन, वस्त्र, लकड़ी आदि का भी संकलन करें। जो राज्य में सिक्कों की परख करने में दक्ष हों उनका सहयोग प्राप्त करके राज्य के लिए सिक्कों का संग्रह करें।

कौटिल्य ने इसी तरह से धान्याधिकारी के लिए भी कर्तव्यों का निर्देश किया है। राज्य में जो धान्याधिकारी हैं वे राज्य के लिए शुद्ध अन्न संकलित करें और इतनी अधिक मात्रा में करे जिससे वह पूरा पड़ जावे। इस प्रकार से इन अधिकारियों के कर्तव्यों का उल्लेख करते हुये कौटिल्य पण्य, कुप्य और आयुध आदि के कर्तव्यों का वर्णन भी करते हैं।

आचार्य कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र नामक ग्रन्थ में जहाँ राजा के कर्तव्यों का उल्लेख किया है वहीं पर उन्होंने वरिष्ठ और कनिष्ठ कर्मचारियों के कर्तव्यों का उल्लेख भी किया है। आचार्य कौटिल्य ने गणक नाम के अधिकारी का रेखांकन किया है जो राज्य के आय-व्यय का निरीक्षक होता था। वह राज्य में होने वाली आय का विवरण और व्यय का विवरण रखता था। उसके कार्यों में अन्य जो कार्य सम्मिलित थे उनमे सभी विभागों की नामावली, जनपद की पैदावार और आमदनी का विवरण रखने का अधिकार भी था। उसे यह भी अधिकार था कि अन्य विभागों के लोखा-जोखा को ठीक प्रकार से देखे और विधिपूर्वक उसका निरीक्षण तथा परीक्षण करे।[१]

जिस प्रकार से कौटिल्य ने इन सभी आधिकारियों के विषय में विवरण दिया है उसी तरह से जो छोटे कर्मचारी हैं उनके कर्तव्यों का विवरण भी दिया गया है। इस विवरण में जहाँ यह उल्लेख है कि वे सभी अपने कर्तव्यों का निर्वाह करेगें और ऐसा कोई कार्य नहीं करेंगे जिससे राज्य संचालन में व्यवधान उत्पन्न हो, वहीं पर आचार्य कौटिल्य ने यह भी लिखा है कि ये सभी कर्मचारी या तो मन्त्रिपरिषद् के प्रति उत्तरदायी होगें अथवा राजा के प्रति उत्तरदायी होगें। इसका अभिप्राय यह हुआ कि कर्मचारियों पर राजा का नियन्त्रण का होता है और वह मन्त्रिपरिष्द् की सलाह से राज्य का निर्वाह करता था और अन्य कर्मचारी अपने कर्तव्यों का निर्वाह करते थे।

१. कौ. अ., पृ. १२४-१२५

कानून तथा न्याय :-

प्राचीन सामाजिक व्यवस्था में धर्म की महत्ता अधिकतम रूप में स्वीकार की गई है। जो भी राज्य के नियम थे और जिनके आधार पर कर्मचारी प्रशसन चलाते थे उसके मूल में भी धर्म का प्रमुख स्थान था। इस सम्बन्ध में हम यहाँ तक देख सकते हैं कि धर्म में कुछ भी परिवर्तन करने का अधिकार किसी को नहीं था और यह सभी शस्त्रीय विधान से ही संचालित होता था। राजा यद्यपि कानून का निर्माण करता था तथापि वह धर्म के बन्धन में बँधा रहता था और धर्म के अधीन प्रचलित होने वाले किसी प्रकार के कानूनों में परिवर्तन करने का अधिकार उसको भी नहीं था। तब यह कहा गया है कि जहाँ पर चरित्र और लोकाचार का विचार किया जाये वहाँ पर धर्म को मुख्यतः के साथ महत्त्व दिया जाये। आचार्य कौटिल्य ने राजा के लिए यह लिखा है कि वह चारों वर्णों, आश्रमों और लोकाचार का संरक्षक है इसलिए वह धर्म का रक्षक है और धर्म का प्रवर्तक है। धर्म, व्यवहार, चरित्र और राजाज्ञा विवाद के निर्णायक में इन चारों को देखा जाता था और ये चारों एक प्रकार से राज्य के चार पैर थे। पूरा का पूरा राज्य इसी पर टिका हुआ होता था। यद्यपि कौटिल्य राजाज्ञा को महत्त्व देते हैं और वे एक स्थान पर यह लिखते हैं कि धर्म से व्यवहार, व्यवहार से चरित्र और चरित्र की अपेक्षा राजाज्ञा श्रेष्ठ है। इसमें धर्म सच्चाई में व्यवहार साथियों में, चरित्र समाज के जीवन में और राजाज्ञा राजकीय शासन में स्थित रहती है।[1] जिसमें हम यह कह सकते हैं कि राजाज्ञा महत्वपूर्ण है किन्तु इसके मूल में भी धर्म है।

---

१. अत्र सत्तेस्थितो धर्मो व्यवहारस्तु साक्षिसु।
चरित्रं संग्रहे पुंसा राज्ञामाज्ञा तु शासनम्।। कौ. अ., पृ. ३१८

इस रूप में कौटिल्य राजा के लिए जब शासन करने का निर्देश करते हैं तो वे यह कहते हैं कि राजा को धर्म पूर्वक शासन करना चाहिए, चरित्र का पालन करना चाहिए, क्योंकि ऐसा करता हुआ राजा प्रजा का पालन तो करता ही है पृथ्वी का स्वामित्व भी प्राप्त करता है। उन्होंने यह लिखा है कि जहाँ पर चरित्र और लोकाचार के साथ धर्मशास्त्र का विरोध हो वहाँ पर धर्मशास्त्र को ही प्रामाणिक मानना चाहिए। अपने सिद्धान्त के साथ कौटिल्य यह भी कहते हैं कि कहीं पर यदि राजा के शासन से धर्मशास्त्र का विरोध दिखायी देता हो तो फिर राजा के शासन को ही महत्त्व देना चाहिए; क्योंकि ऐसा करने से धर्मशास्त्र का ही पालन होता है।[१]

राजा विधिपूर्वक शासन व्यवस्था संचालित करता रहे इसके लिए कौटिल्य ने राजा की दिनचर्या को दो भागो में बाँट दिया है। इस रूप में उसे दिन और रात्रि में किस प्रकार से काम करना चाहिए इसका भी निर्देश किया है। कौटिल्य ने राजा के कार्यों में यज्ञ कराना, प्रजा का पालन करना, प्रजा के लिए न्याय की व्यवस्था करना, समय-समय पर दान देना और शत्रु मित्र से यथोचित रूप से व्यवहार करना सम्मिलित है। आचार्य कौटिल्य ने राजा के लिए यह भी लिखा है कि वह विभिन्न विषयों के प्रकाण्ड विद्वानों को उनके उपयुक्त स्थानों पर नियुक्त करे जिससे राजा का शासन विधि-व्यवस्था के अनुरूप चलता रहें क्योंकि बिना वैचारिक पृष्ठभूमि के राजा का शासन ठीक प्रकार से नहीं चलता। जब राजा अपनी वैचारिक पृष्ठभूमि के द्वारा शासन करता है तो राज्य की सभी बाधायें दूर हो जाती हैं और राज्य उन्नति करता हुआ कल्याण ही ओर बढ़ता है। यही पथ ऐसा है जिसमें राजा तथा राज्य का कल्याण निहित है।[२]

---

१. कौ. अ., पृ. ३१९

२. वही, पृ. ७७

कौटिल्य राजा के लिए यह लिखते हैं कि वह उद्योगशील होवे और निरन्तर उद्योग में लगा रहे। इसके लिए वह व्यक्तिगत रूप से सक्रिय होकर प्रशासन में भागीदारी करे। उसके राजदरबार में कोई भी व्यक्ति बिना रोक-टोक के आ जा सके और उसकी समस्या का निराकरण हो सके। यदि राजा से सामान्य व्यक्ति अपनी समस्या का कथन ठीक से नहीं कर पाता तो राजा के राज्य कर्मचारी ही उसके शासन को उलट-पलट कर देते हैं। इस स्थिति में राज्य के कार्य अनियमित हो जाते हैं और राजा शत्रुओं के अधीन हो सकता है। इसी तथ्य को ध्यान में रखते हुये कौटिल्य ने राजा के लिए कहा है कि राजा समय निकालकर देवालयों का पशुशालाओं का और अन्य सार्वजनिक स्थानों का निरीक्षण स्वयं करता रहे। बालक, वृद्ध, रोगी तथा अनाथ स्त्रियों से सम्बन्धित कार्य वह स्वयं सम्पादित करे।[१] राजा के लिए कौटिल्य ने यह विधान किया है कि पहले वह उन पूर्व कार्यों का पूर्ण करे जो पहले से विलम्बित हैं क्योंकि जिस कार्य का समय बीत जाता है वह कार्य कष्ट साध्य हो जाता है।[२]

राजा का प्रशासन ठीक से चले और राजा द्वारा किया गया निर्णय भी ठीक से प्रवर्तित हो सके इसके लिए राजा पुरोहितों और आचार्यों के साथ यज्ञ शाला में जाये, तपस्वी और मायावियों का निर्णय अकेले न करे, शत्रु और मित्र के विषय में पूर्ण रूप से विवेक रखे और उनके गुण-दोषों का विवेचन ठीक प्रकार से करे जिससे शासन ठीक प्रकार से चलता रहे और न्याय भी प्रभावी ढ़ंग से हो सके।

---

१. कौ. अ., पृ. ७६

२. सर्वमात्ययिकं कार्यं श्रृणुयान्नातिपातयेत्।
कृच्छ्रसाध्यमतिक्रान्तमसाध्यं वा विजायते।। वही., पृ. ७७

आचार्य कौटिल्य ने न्याय और दण्ड की व्यवस्था में पर्याप्त ध्यान दिया है और उन्होंने अपने ग्रन्थ के प्रारम्भ में ही विद्याओं का विचार करते हुये दण्ड को नीति के रूप में माना है। वे इस मत का प्रतिपादन करते हैं कि दण्ड की व्यवस्था राज्य कार्य में होनी चाहिये। क्योंकि बिना दण्ड-व्यवस्था के न राज्य संचालित होगा और न ही समाज की व्यवस्था व्यवस्थित रूप से चल सकेगी। यद्यपि वे यह मत व्यक्त करने के पूर्व यह भी लिखते हैं कि दण्ड का विधान न्याय-पूर्वक किया जाना चाहिये और अन्याय पूर्वक किसी को दण्ड नहीं दिया जाना चाहिये। ऐसा दण्ड सभी विद्याओं की सुख-समृद्धि का हेतु होता है इसलिये वे दण्डनीति को प्रतिपादित करते हुये दण्ड को ही दण्ड नीति कहते हैं। यह नीति ऐसी होती है जो अप्राप्त वस्तुओं की प्राप्ति कराती है प्राप्त वस्तुओं की सुरक्षा करती है, सुरक्षित वस्तुओं की अभिवृद्धि करती है और अभिवर्द्धित वस्तुओं को समुचित कार्यों में लगाने का निर्देश करती है। लोक की यात्रा इसी पर निर्भर है। अर्थात् राजा यदि लोक व्यवस्था का संचालन विधिपूर्वक करना चाहता है तो उसके लिये यह आवश्यक है कि प्रजा को ठीक मार्ग पर ले चलने के लिये दण्ड व्यवस्था का संचालन विधि पूर्वक करें।[१] दण्ड-नीति पर विचार करते हुये कौटिल्य ने अपने पूर्ववर्ती आचार्यों के मतों पर पर्याप्त रूप से विचार किया है और ऐसा करते हुये उन्होंने जिस नीति का प्रतिपादन किया है उस दण्डनीति के बारे में यह लिखा है कि जिन आचार्यों ने येन केन प्रकारेण दण्ड देने की व्यवस्था को स्वीकार किया है, वह व्यवस्था स्वीकार करने योग्य नहीं है।

---

१. तस्य नीतिः दण्डनीतिः। कौ. अ., पृ. १५

इस विषय में उन्होंने जो तर्क दिये हैं उसमें यह कहा गया है कि यदि प्रजा को बिना विचार किये हुये दण्ड दिया जायेगा तो वह उद्‌विग्न हो जायेगी अर्थात् प्रजा के मन में राजा के प्रति उद्‌विग्नता का भाव पैदा होगा। इसी तरह से यदि प्रजा को मृदु दण्ड दिया जायेगा तो राज्य का परिभव हो सकता है, अर्थात् राज्य संकट में पड़ सकता है, इसलिये वे यह कहते हैं कि प्रजा को जब भी दण्ड दिया जाये तो समुचित प्रकार से ही दण्ड दिया जाये क्योंकि ऐसा करने से प्रजा धर्म, अर्थ और काम में ठीक से नियोजित रहती है।

कौटिल्य ने न केवल प्रजा के लिये दण्ड व्यवस्था का निर्धारण किया है अपितु वे प्रजा की सुरक्षा के लिये राज कर्मचारियों, व्यवसायियों और दुर्जनों के लिये भी दण्ड की व्यवस्था करते हैं और इन्हें भी समुचित सुरक्षा प्राप्त हो ऐसा विधान करते हैं।

सभी को ठीक से न्याय प्राप्त हो जाये और अन्यायी को समुचित दण्ड प्राप्त हो; एतदर्थ उन्होंने अर्थ दण्ड, शरीर दण्ड और कारागार दण्ड सम्मिलित किये हैं। इस सम्बन्ध में कौटिल्य के जो सिद्धान्त हैं उनमें से एक सिद्धान्त यह है कि व्यक्ति का जिस प्रकार का अपराध हो उसे उसी प्रकार का दण्ड मिलना चाहिए। दूसरे प्रकार से यह भी विचार किया गया है कि अपराधी का सामर्थ्य कैसा है और उसे कैसा दण्ड दिया जा सकता है। कौटिल्य ने यह भी लिखा है कि वह किस वर्ण का है और उसके अपराध करने का स्वरूप क्या था इस पर विचार किया जाना चाहिए और तभी समुचित रीति दण्ड से व्यवस्था की जानी चाहिए।

---

१. कौ. अ., पृ. १६

न्याय व्यवस्था को संचालित करने के लिए किस प्रकार से राजतन्त्र को सक्रिय होना चाहिए इस विषय में आचार्य कौटिल्य ने यह लिखा है कि समाज जिसके विषय में शंका करता हो और जो डाकू होवें, हत्या करने वाले हों, लूटपाट करने की जिनकी प्रवृत्ति हो, जिनके पूर्वजों की सम्पत्ति क्षीण होती जा रही हो, जिन्हें खर्च के लिए पर्याप्त वेतन न मिलता हो, जो अपने नाम गोत्र आदि का परिचय ठीक से न देते हों तथा जिनको व्यवसाय का ज्ञान ठीक से न हो उनकी जानकारी विधिवत कर लेनी चाहिए।[१] अर्थात् राजा का और राज्य कर्मचारियों का यह दायित्व है कि वे समाज के विषय में पूरी तरह जागरूक हों और समाज में कौन व्यक्ति कैसा है तथा किस प्रकार का व्यवहार करता है इसका ज्ञान रखें।

जिस प्रकार से कौटिल्य समाज के अपराध में संलिप्त रहने वाले व्यक्तियों की पहचान का निर्देश करते हैं उसी प्रकार से वे चोरी में गई वस्तु के पता करने का विधान करते हैं और इसी के साथ ही साथ वे यह भी कहते हैं कि चोर की पहचान ठीक से की जानी चाहिए जिससे उसे दण्ड देने में किसी प्रकार का भ्रम न रहे। इस रूप में जो वास्तव में चोर हैं और दण्ड पाने के अधिकारी हैं उसे ही दण्ड दिया जाना चाहिए।[२]

कौटिल्य की इस विचार परम्परा को देखकर एक भारतीय विद्वान का यह मत है कि कौटिल्य की यह व्यवस्था ठीक उसी प्रकार ही है जैसे आज के समय में पुलिस अपराध का पता करती है और अपराधी को खोजती है।[३] इस रूप में हम यह कह सकते हैं कि कौटिल्य ने समाज व्यवस्था को ठीक से संचालित करने के लिए जिस प्रकार का विधान किया है वह सदा सर्वदा के लिए प्रासंगिक है।

---

१. कौ. अ., पृ. ४४७-४४८

२. वही, पृ. ४४९-४५२

३. कौ. यु. द., पृ. ८१

कौटिलीय अर्थशास्त्र पर जिन्होंने अपना विश्लेषण प्रस्तुत किया है वे यह मत व्यक्त करते हैं कि आचार्य कौटिल्य ने न्याय के कुछ इस प्रकार के दण्डों का विधान भी किया है जो दण्ड पिछड़े क्षेत्रों की मानसिकता वाले कहे जा सकते हैं। जैसे- किसी को किसी अपराध के लिए दण्डित करते हुए डण्डे मारना, कोड़े लगाना और हाथ-पैर काटना। कौटिल्य ने दण्ड व्यवस्था को विभजित किया है और इसे अठारह प्रकार का बताया है किन्तु दण्ड-व्यवस्था के इस विधान में बालको कों वृद्धों को रोगियों को और ब्राह्मणों को मुक्त रखा गया है। इसी प्रकार से जो स्त्री गर्भवती होती थी उसे भी दण्ड व्यवस्था से मुक्त रखने का विधान है। इसके पीछे सम्भवतः भाव यह रहा है कि गर्भवती स्त्री से उससे होने वाली संतान को दण्डित न होना पड़े। ब्राह्मणों के लिए मृत्युदण्ड का विधान नहीं किया गया किन्तु अपराध करने पर उसे अदण्य भी नहीं माना गया। कहा यह गया है कि कोई ब्राह्मण यदि इस प्रकार का अपराध करता है जिसमें उसे मृत्युदण्ड दिया जाना चाहिए तो ऐसी अवस्था में ब्राह्मण होने के नाते उसे मृत्युदण्ड तो न दिया जाये किन्तु उसके मस्तक पर ऐसा चिन्ह बना दिया जाये जिससे वह कलंकित होकर अपना जीवन जिये।[१] इस रूप में हम देख सकते हैं कि ब्राह्मण के लिए जिस दण्ड की व्यवस्था है वह ऐसा नहीं है जिसे दण्ड न कहा जाये। ब्राह्मण समाज का अगुआ है इसलिए मृत्यु दण्ड की अपेक्षा जीवन भर कलंकित होकर जीना उसके लिए कठोर दण्ड ही कहा जायेगा, क्योंकि मृत्यु की अपेक्षा में प्राप्त होने वाला अपयश अधिक पीड़ित करने वाला होता है।

---

१. कौ. यु. द., पृ. ८२

कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में न्याय व्यवस्था के संचालन के लिए इस प्रकार से दण्ड की व्यवस्था की है जिससे न्याय व्यवस्था प्रभावी बनी रहे और सभी लोग अपन-अपने कर्तव्यों के पालन में दृढ़ बने रहें। इस दृष्टि से वे अन्य प्रकार के दण्डों के विधान के साथ-साथ अर्थदण्ड का उल्लेख करते हैं और इसके लिए वे इसे तीन प्रकार का बताते हैं। पहले प्रकार का अर्थदण्ड पूर्वसाहस दण्ड कहलाता था, जो दो सौ से लेकर पाँच सौ-पण तक का होता था। इसी तरह से तीसरे प्रकार का अर्थदण्ड उत्तम साहस दण्ड होता था जो पाँच सौ से लेकर एक हजार पण तक होता था।[१]

आचार्य कौटिल्य न्याय और दण्ड की व्यवस्था में सामाजिक व्यवस्था के लिए केवल दण्ड को ही पूर्ण नहीं मानते अपितु वे अपराधी को सुधार का अवसर भी देना चाहते हैं। यदि कोई अपराधी अपना सुधार करने की इच्छा करता तो उनके मत से इसे उसका अवसर देना चाहिए क्योंकि दण्ड केवल दण्ड के लिए नहीं है।[२]

इस रूप में कौटिल्य न्याय की व्यवस्था को और दण्ड की व्यवस्था को राज्य के संचालन के लिए आवश्यक मानते हैं और यह कहते हैं कि यह व्यवस्था समाज को धर्म, अर्थ और काम में लगने के लिए प्रेरित करती है।[३]

---

१. कौ. अ., पृ. ४०१-४०३

२. वही, पृ. ८२-८३

३. चतुर्वर्णाश्रमो लोको राजा दण्डेन पालितः।
स्वधर्मकर्माभिरतो वर्तते स्वेषु वेश्मसु।। कौ. अ., पृ. १७

गुप्तचरों की नियुक्ति :-

कौटिलीय अर्थशास्त्र में गुप्तचरों की नियुक्ति और उनके द्वारा किये गये कार्यों पर भी पर्याप्त रूप से प्रकाश डाला गया। आचार्य कौटिल्य ने दो प्रकार के गुप्तचरों की व्यवस्था बतायी है। एक प्रकार के गुप्तचर वे हैं जो राजा के द्वारा निर्देश प्राप्त करने पर एक ही स्थान पर रहते थे और उन्हें 'संस्था' कहा जाता था। दूसरे प्रकार के गुप्तचर वे होते थे जो घूम-घूम कर अपना काम करते थे, राजा की उपयोगी सूचनायें एकत्रित करते थे। उन्हें संचार के नाम से जाना जाता था।[१]

आचार्य कौटिल्य ने संस्था गुप्तचरों का विभाग करते हुये उन्हें कई नामों से संकेतित किया है। इनमें कापटिक, उदस्थित, गृहपतिक, वैदेहिक, तापस, सतृ, रसद और भिक्षुकी को गिना गया है। कौटिल्य ने इन सबके लक्षण भी दिये हैं जैसे कि वे लिखते हैं कि जो दूसरों के रहस्यों को जानने वाला होता था, दबंग स्वभाव वाला होता था और जो अध्ययन करने वाले विद्यार्थियों की वेश-भूषा में रहता था उसे कापटिक गुप्तचर कहते थे। इसी तरह से जो संन्यासी के वेश में होता था, बुद्धिमान होता था, सदाचारी होता था उसे उदास्थिक गुप्तचर कहा जाता था। तापस गुप्तचर के विषय में यह लक्षण दिया है कि वह या तो जटाधारी होता था अथवा सिर मुड़ाकर रहता था। वह पवित्र और बुद्धिमान होता था। ऐसे गुप्तचर को तापस गुप्तचर कहा जाता है।[२] ये सभी अपने निर्धारित कार्य सम्पन्न करते थे।

---

१. कौ. अ., पृ. ३६

२. वही, पृ. ३५-३७

गुप्तचरों की नियुक्ति का अधिकार उस समय राजा के हाथ में होता था इसलिए कौटिल्य ने यह निर्देश किया है कि राजा इनको धन देखकर और सम्मान देकर नियुक्त करे तथा सदा सर्वदा इनका सम्मान करता रहे। गुप्तचर राजा के लिए इसलिए महत्वपूर्ण होते हैं, क्योंकि उनके द्वारा ही राजा अपने राज्य का और अपने राज्य के कर्मचारियों का कार्य व्यवहार जानता है।[1] इस रूप में संस्था नामक गुप्तचरों की नियुक्ति का विधान राजा के द्वारा किये जाने का निर्देश कौटिल्य ने किया है। संचरण नामक गुप्तचरों के विषय में कौटिल्य यह लिखते हैं कि जो निरन्तर भ्रमणशील रहते थे और भ्रमण करते हुये ही अपना कार्यसम्पादित करते थे वे संचरण नामक गुप्तचर होते थे। अपने कार्य की सिद्धि के लिए और समाज की व्यवस्था के संचालन के लिए राजा इन्हें विधिपूर्वक नियुक्त करता था।

इसी रूप में कौटिल्य ने अन्य प्रकार के गुप्तचरों का लक्षण दिया है और उनके कार्य–व्यापार का निर्देश भी किया है। उन्होंने सतृ नामक गुप्तचर के विषय में यह लिखा है कि जो राजा का सम्बन्धी न हो और जिसका पालन–पोषण करना राजा के लिए आवश्यक ही तथा जो सामुद्रिक आदि विद्याओं को जानता हो साथ ही साथ नाचने–गाने की कला में निपुण हो वह सतृ नामक गुप्तचर होता है। एक प्रकार का गुप्तचर तीक्ष्ण गुप्तचर कहा जाता है और वह ऐसा गुप्तचर होता है जो वन में बाघों से और सर्प आदि से भिड़ने का साहस रखता है। अर्थात् वह गुप्तचर किसी से भी भय का अनुभव नहीं करता तथा वन में घूमता हुआ आवश्यकता पड़ने पर बाघ आदि से भी अकेले निपट लेने में सक्षम होता है।

---

१. कौ. अ.,पृ ३८

कौटिल्य ने एक अन्य प्रकार के गुप्तचरों का उल्लेख किया है जो अपने भाई-बन्धुओं से स्नेह नहीं रखते थे, स्वभाव से क्रूर और आलसी होते थे राजा उनका उपयोग गुप्तचरी के लिए करता था। ऐसे गुप्तचरों को रसद गुप्तचरों के नाम से जाना जाता थ। वे अपने परिवार से निर्पेक्ष होकर राजा के लिए काम करते थे और राजा अपने राज्य की व्यवस्था के लिए उनका उपयोग करता था।[1]

कौटिल्य के अर्थशास्त्र में जिन गुप्तचरों का और नियुक्ति का संकेत किया गया है उसमें केवल पुरुषों को ही गुप्तचर बनाने की प्रथा नहीं थी तब स्त्रियों को भी गुप्तचर के रूप में नियुक्त करने की परम्परा दिखाई देती है। आचार्य कौटिल्य ने लिखा है कि जो स्त्री आजीविका की इच्छुक हो, दरिद्र हो, प्रौढ़ हो, विधवा हो, दबंग हो, रनिवास में सम्मानित होने वाली हो तथा जो प्रमुख अमात्यों के घर में प्रवेश कर सकती हो, वह गुप्तचर हो सकती थी और इस प्रकार की स्त्री गुप्तचर को परिव्राजिका कहा जाता था। इसी प्रकार से कौटिल्य ने यह भी लिखा है कि जो मुण्डित भिक्षुकी होती थी उसे मुण्डा के नाम से सम्बोधित किया जाता था और वह भी राजा के लिए गुप्तचर का कार्य करती थी। एक दूसरे प्रकार की गुप्तचरी जो शूद्रा अथवा वृषली होती थी वह भी गुप्तचर का काम करती थी किन्तु उसके नाम से यह संकेत मिलता है कि सम्भवतः वह निम्न जाति की होती थी।[2]

---

१. कौ. अ., पृ. ३६

२. परिव्राजिका वृत्तिकामा दरिद्रा विधवा.....एतयः मुण्डयः वृषलो व्याख्याताः। वही, पृ. ४०

गुप्तचरों का प्रयोग किस प्रकार से करना चाहिए इसका संकेत भी कौटिल्य ने किया है। आचार्य कौटिल्य ने यह लिखा है कि राजा को चाहिए कि वह अपने देश की स्थितियों और परराष्ट्र कीं स्थितियों का ज्ञान करें तथा आवश्यकता पड़ने पर गुप्तचरों की नियुक्ति करें। राजा के लिए यह संकेत किया गया है कि एक ओर वह अपने राज्य के विषय में सभी प्रकार की जानकारी गुप्तचरों के माध्यमों से करता रहे जिससे उसके अपने राज्य की स्थिरता में किसी प्रकार का व्यवधान न हो। दूसरी ओर वह दूसरे राजा के राज्य का वृतान्त भी जानता रहे और वहाँ होने वाली गतिविधि से भी परिचित रहे। इससे यह होगा कि जहाँ एक ओर उसका राज्य स्थाई रहेगा वहीं दूसरी ओर यदि कोई राजा उसके प्रति दुर्व्यवहार रखता है और आक्रमण करने का प्रयत्न करता है तो वह इसका विरोध कर सकेगा।

कौटिल्य ने गुप्तचरों की नियुक्ति का वर्णन जिस रूप में किया है उससे यह भी ज्ञात होता है कि वे पर्याप्त रूप में शक्ति सम्पन्न होते थे और अपना कार्य करने के लिए उन्हें राजा की ओर से सभी प्रकार के साधन प्राप्त होते थे। राजा उन्हें उनके कार्य के लिए साधन भी देता था और उनका सम्मान भी करता था। इसलिए वे गुप्तचर उन राजाओं तथा व्यक्तियों के प्रति विशेष रूप से सचेष्ट रहते थे, जिनसे उन्हें अपने स्वामी के प्रति दुर्भाव दिखाई देता था। ऐसे विद्वेषी राजाओं की शक्ति का और उनकी साधन सम्पन्नता का वे पूरा विवरण रखते थे और इसकी सूचना अपने स्वामी को देते थे।

आचार्य कौटिल्य ने शत्रु देश में गुप्तचरों की नियुक्ति करने के सम्बन्ध में यह लिखा है कि राजा को समय-समय पर और सुविधा के अनुसार अपने गुप्तचरों की नियुक्ति करनी चाहिए क्योंकि ऐसा करने से राजा बाहर से आने वाली किसी विपत्ति का सामना विधिपूर्वक करता है। इसके लिए कौटिल्य ने लिखा है कि राजा का जो परम विश्वसनीय हो उसे राजा दिखावे के रूप में दण्ड देता हुआ अपने राज्य से निकाल दें जिससे यह ज्ञात हो कि राजा इस व्यक्ति से बहुत अधिक नाराज हैं। ऐसा गुप्तचर दूसरे राजा के राज्य में जावे और वहाँ जाकर उस राजा की विश्वसनीयता प्राप्त करे। बाद में वह वहाँ युद्ध के लिए उपयोग में आने वाली सामग्री एकत्रित करे और अपने स्वामी के हित का चिन्तन करता रहे।[1] इस क्रम में कौटिल्य यह भी लिखते है कि जो भी गुप्तचर शत्रु राजाओं के यहाँ जावे वहाँ वे अनेक रूपों में रहें और वहाँ रहने वाले विभिन्न वर्गों के लोगों से मित्रता करें। ऐसा करते हुए वहाँ वे गुप्तचर अनेक प्रकार की भ्रमात्मक बातें फैलावें जिससे वहाँ समाज में विघटन पैदा हो और उस राज्य के लोगों में आपस में वैमनस्य उत्पन्न हो। ऐसा करते हुए गुप्तचर सदैव अपने स्वामी के हित का ध्यान रखें और इसी विचार से कार्य करते रहें।[2] इस रूप में कौटिल्य यह लिखते हैं कि उस देश के लोग यदि गलत कार्यों में प्रवृत हैं यहाँ तक कि चोरी आदि कार्य कर रहें हों तो गुप्तचर उनका भी सहयोग लेवें और स्वामी के हित का सम्पादन करने के लिए कार्य करें। ऐसा करते हुए वे किसी प्रकार का संकोच न करें। उनका लक्ष्य केवल अपने स्वामी का हित सम्पादन ही होवे।[2]

---

१. कौ. अ., पृ. ८७६
२. वही, पृ. ८८४

इस प्रकार से कौटिल्य जहाँ दूसरे राजाओं के इति वृत्त को जानने के लिए गुप्तचरों के प्रयोग का संकेत करते हैं वहीं वे अपने राज्य में प्रजा के सम्पूर्ण व्यवहार को जानने के लिए गुप्तचरों का प्रयोग करने को कहते हैं। इस कार्य में संस्था नामक गुप्तचरों का प्रयोग किया जाता था जो अपने स्थान में अथवा अपने राज्य में रहकर प्रजा के कार्य व्यवहार को देखते थे और जब जैसी स्थिति आती थी तब वैसा व्यवहार करते थे। सतृ नामक गुप्तचर विविध प्रकार की बातें करके प्रजा के मन के भाव को जानने का प्रयत्न करते थे और यह देखते थे कि कौन किस प्रकार का व्यवहार कर रहा है और किसके मन में हमारे राज्य के लिए किस प्रकार का भाव है।[१] तब के समय में राज्य का कार्य देखने के लिए समाहर्ता की नियुक्ति की जाती थी। वह राज्य के प्रति किये जा रहे गुप्त और षड्यन्त्र कारी कार्यों को जानने के लिए सिद्ध, तपस्वी, संन्यासी, ज्योतिषी, गूंगे, बहरे और रसोईया आदि के रूप में विभिन्न स्थानों पर अपने गुप्तचर नियुक्त करता था और उनके लिए यह आदेश था कि वे सभी भिन्न-भिन्न स्थानों पर रहते हुए अपने कार्यों को करते हुए समाज के ईमानदार और बेईमान लोगों का पता लगावें और जो जैसा कर रहा है उसकी सूचना यथासमय न्यायाधीशों को देते रहें।[२] इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि राज्य में नियुक्त गुप्तचर यदि प्रजा के कार्यों की जानकारी राजा को देते रहते थे तो उससे राज्य कार्य की स्थापना और संचालन में सुविधा होती थी। न्यायाधीश इस सूचना को पाकर उचित रीति से न्याय कर सकते थे और इससे सामाजिक व्यवस्था बनी रहती थी।

---

१. कौ. अ., पृ. ४४१-४४२

२. वही, पृ. ४४६

कौटिल्य ने गुप्तचरों के सम्बन्ध में केवल यही निर्देश नहीं किया कि वह प्रजा की स्थिति जानने के लिए गुप्तचरों का प्रयोग करें अपितु उन्होंने यह भी निर्देश किया है कि राजा को चाहिये कि वह अपने मन्त्रियों के पास, महामन्त्री के पास और पुरोहितों के पास भी अपने गुप्तचरों को नियुक्त करें। इस प्रकार से राजा के लिये यह आवश्यक है कि वह गुप्तचरों के माध्यम से ही अपने मन्त्रियों के भाव को जानता रहे और कौन मन्त्री राजा के प्रति किस प्रकार का भाव रखता है यह विचार करता रहे। इसी प्रकार से राजा अपने महामन्त्री के व्यवहार में भी जागरूक रहे और यह ध्यान रखे कि उसके महामन्त्री के मन में उसके प्रति किस प्रकार का भाव हैं। राजा के पास जो पुरोहित होते हैं वे भी राजा के लिये महत्वपूर्ण होते हैं और मन्त्रियों जैसे ही होते हैं। कौटिल्य कालीन समाज में राजा के लिये पुरोहितों का महत्त्व वैसा ही होता था जैसा मन्त्रियों का होता था इसलिये राजा को यह निर्देश दिया गया कि वह पुरोहितों के मनोभावों को भी जानता रहे। सबके विषय में जानकारी करने के पश्चात् राजा अपने विश्वसनीय गुप्तचरों के माध्यम से प्रजा के अनुराग और द्वेष को देखता रहे। राजा की प्रजा यदि राजा के प्रति अनुराग वाली होती है तो राजा का कार्य विधिवत् सम्पादित होता है और उसका राज्य उचित रीति से चलता है। यदि प्रजा राजा के प्रति विद्वेष भाव वाली होती है तो राजा के लिये राज्य संचालन करना कठिन होता है। इस रूप में राजा के लिये गुप्तचरों का महत्त्व बहुत अधिक है।

राजा के राष्ट्र तथा परराष्ट्र सम्बन्धी नियम :-

कौटिल्य अर्थशास्त्र में कौटिल्य ने अपने राज्य को सबल बनाने के लिये तरह-तरह की व्यवस्थायें तो दी हैं वे राजा के लिये परराष्ट्र सम्बन्धी नियमों का उल्लेख भी करते हैं। जहां अपने राष्ट्र के व्यवस्था सम्बन्धी नियमों में कौटिल्य ने राजा के आचरण को रेखांकित किया है कि राजा बहुत ही संयमित होकर अपनी दिनचर्या सम्पादित करे और अधिकतम समय प्रजा के हित में लगावे। वहीं कौटिल्य ने राज्य के विधि पूर्वक संचालन के लिये यह भी लिखा है कि वह अपने राज्य में शिक्षा की व्यवस्था उत्तम रीति से करे और धर्म की स्थापना भी नीति पूर्वक करता रहे। राजा को चाहिये कि वह स्वयं श्रेष्ठ आचरण करता हुआ प्रजा से श्रेष्ठ आचरण का पालन करावे। उस समय जो वर्णाश्रम व्यवस्था प्रचलित थी, राजा उसका स्वयं पालन करे और प्रजा से भी उसका पालन करावें। राजा यह देखे कि उसके राज्य में कोई वर्णाश्रम व्यवस्था की मर्यादा का उल्लंघन न करे और राजा स्वयं भी कोई ऐसा कार्य न करे जिससे वर्णाश्रम व्यवस्था का उल्लंघन होता हो। कौटिल्य ने इसे आर्य मर्यादा कहा है और यह कहा है कि इसी मर्यादा से समाज संचालित होता है और राज्य की व्यवस्था भी बनी रहती है।

इसी तरह राज्य संचालन के लिये कौटिल्य ने राजा के सहयोग के लिये मन्त्री, पुरोहित आदि की नियुक्ति के साथ विधिपूर्वक मन्त्री परिषद् की नियुक्ति के साथ-साथ अधिकारियों की नियुक्ति का विधान किया है।

इससे यह अपेक्षा की है कि राज्य का संचालन विधिपूर्वक हो सकेगा। उस समय राष्ट्र की विधि व्यवस्था के संचालन के साथ-साथ परराष्ट्र सम्बन्धी नियमों का ज्ञान भी राज्य के लिये आवश्यक होता था क्योंकि उस काल के ऐसे संकेत प्राप्त हैं जिनसे पता चलता है कि उस समय इनके दूसरे देश के साथ सम्बन्ध थे। मत्स्य पुराण में इसका उल्लेख किया गया है। वहाँ पर भारत के साथ जिन देशों का सम्बन्ध किया गया है उनमें पश्चिमी एशिया, रोम, मध्य एशिया, चीन और पूर्वी द्वीप समूहों का उल्लेख है।[१]

अशोक के सम्बन्ध में यह जानकारी सर्वविदित है कि उन्होंने अपने देश के बाहर भी धर्म के प्रचार का प्रयत्न किया था। इसके लिये वह स्वयं तत्पर रहे और उन्होंने अनेक प्रचारकों को धर्म प्रचार के लिये बाहर भेजा। इस रूप में तब उनका सम्बन्ध केवल दक्षिण के तमिलों तक ही सीमित नहीं था, यूनानी नरेशों से भी उनके सम्बन्ध थे। सम्राट् अशोक ने अपने पुत्र महेन्द्र और अपनी पुत्री को भी धर्म प्रचार के लिये बाहर विदेश में भेजा था और इस माध्यम से उन्होंने परराष्ट्र सम्बन्ध को विस्तार दिया था।[२]

---

१. म०पु० १२३/३५; १४४/३६-५५; १२०/७१
२. कौ० यु०द०, पृ० ६०-६१

राष्ट्र और परराष्ट्र सम्बन्धी नियमों के निर्देश में यह कहा गया है कि सबसे सफल परराष्ट्र नीति वह है जिसके माध्यम से अपने राष्ट्र का हित सम्पादन होता हो। परराष्ट्र सम्बधी नीति भी किन्हीं उद्‌देश्यों को लेकर निर्धारित की जाती है जिसमें नीति निर्माता, विदेश नीति आदि के सिद्धान्त आते हैं। इस दृष्टिकोण के माध्यम से एक भारतीय विद्वान् यह लिखते हैं कि राष्ट्रिय हित की विचारधारा से सम्बन्धित निर्देशों में अपनाया गया सुविचारित कार्यक्रम ही विदेश नीति है।[1] इसका अभिप्राय यह है कि वह विदेश नीति सही सन्दर्भों में विदेश नीति है, जो राष्ट्र के हित सम्पादन में सफल हो और जिसके पीछे एक उद्‌देश्य निर्धारित हो।

आचार्य कौटिल्य ने परराष्ट्र नीति के सम्बन्ध में जो संकेत किये हैं उसके लिये परराष्ट्र से सम्बन्ध रखने के लिये छह प्रकार के गुणों का उल्लेख किया गया है। से छह प्रकार के गुण हैं– सन्धि, विग्रह, यान आसन, संशय और द्वेधीभाव।[2] इस सम्बन्ध में एक आचार्य ने अपना मत दिया है कि ये सन्धि और विग्रह गुण दो ही हैं शेष जो हैं वे इन्हीं के अवान्तर भेद हैं। आचार्य कौटिल्य ने इस सम्बन्ध में अपना यह मत व्यक्त किया है कि गुणों की संख्या छह ही समझना चाहिये क्योंकि सन्धि और विग्रह से ही भिन्न चार गुण तो हैं ही इसलिये सन्धि और विग्रह में अन्य चार गुणों का समावेश नहीं किया जा सकता।[3]

---

१. कौ. यु. द., पृ. ६२
२. कौ. अ. पृ० ५४६
३. वही ; पृ० ५४६

इन गुणों की शाब्दिक व्याख्या करते हुये आचार्य कौटिल्य ने यह लिखा है कि किन्हीं राजाओं के बीच कुछ शर्तों का निर्धारण हो जाना और उसी आधार पर उन दोनों के बीच मेल हो जाना सन्धि कहा जाता है। इसी तरह से जो अपना शत्रु है उसे निर्बल करना और किसी प्रकार से उसका अपकार करना विग्रह कहा जाता है। राजा अपने शत्रु के प्रति जो उपेक्षा का भाव रखता है वह आसन के रूप में जाना जाता है। जब राजा युद्ध के लिये तत्पर होकर किसी दूसरे राजा की ओर चढ़ाई करता है तो उसे यान कहते हैं। इसी तरह से जब शत्रु से अपना वश न चले और शत्रु के ऊपर आक्रमण करता हुआ भी समर्पण के लिये विवश हो जाये तो उस स्थिति को संशय कहा जाता है। और जब सन्धि और विग्रह दोनों ही स्थिति में इनके प्रयोग से शत्रु के साथ व्यवहार करते हुए अपना कार्य चलाना पड़े तो वह द्वैधी भाव कहलाता है।[1]

इस रूप में राजा जब अपने राज्य का संचालन करता था तब वह अपने राज्य के कल्याण के लिये अनेक प्रकार की नीतियों का संचालन भी करता था। उसके द्वारा संचालित की जाने वाली नीतियों का उद्देश्य यही होता था कि वह अपनी नीतियों के माध्यम से किसी प्रकार से अपने राज्य का कल्याण कर सके। इसी तरह से उसकी नीतियाँ इस लिये भी होती थीं कि उसे जिन शत्रु राजाओं से व्यवहार करना है उनसे भी अपनी नीतियों के माध्यम से व्यवहार कर सके और अपने राज्य को कुशलता पूर्वक सुरक्षित रख सके। कौटिल्य ने यही विचार करके छह प्रकार के नीति गुणों का विश्लेषण किया है और दण्ड तथा नीति के विषय में एवं राष्ट्र तथा परराष्ट्र के सम्बन्ध में अपना स्पष्ट अभिप्राय व्यक्त किया है।

१. कौ० अ० ; पृ० ५४६

साम, दाम, दण्ड और भेद का प्रयोग :-

प्राचीन समय से ही राजा की राजनीति में जहाँ एक ओर उसे शत्रु राजाओं के ऊपर आक्रमण करके अपने राज्य की रक्षा करनी पड़ती थी वहीं दूसरी ओर उसे अपनी प्रजा की सन्तुष्टि के लिये अनेक प्रकार के कार्य करने पड़ते थे। इसके लिये ही राजाओं के लिये चार प्रकार की नीतियों का प्रयोग पिछले समय से किया गया है। साम, दाम, दण्ड, और भेद नीति के माध्यम से राजा प्रजा के साथ और राजा-राजा के साथ तथा प्रतिपक्षी राजा पर नियंत्रण रखता था। इन्हीं नीति के अंगों के माध्यम से वह शत्रु को अपने वश में करता था और मित्र पर भी नियन्त्रण रखता था।

इन चारों प्रकार की नीतियों का विश्लेषण आचार्य कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में किया है। जब कभी राजा समझा-बुझाकर और तरह-तरह की बातें करके दूसरे पक्ष के राजाओं के साथ व्यवहार का निर्धारण करता था तो वह साम नीति कही जाती थी। इसमें कटुता का तथा कठोरता का व्यवहार नहीं किया जाता था और शान्तिपूर्वक स्वपक्ष के साथ तथा परपक्ष के साथ व्यवहार होता था। सत्य और असत्य के रूप में यह नीति दो प्रकार की कही गई है। जहाँ पर कोई राजा अपने मित्र के साथ मित्रता का व्यवहार करता था और उस व्यवहार में छल-प्रपंच नहीं होता था तब उस नीति को सत्य साम नीति के रूप में जाना जाता था। इसके विपरीत जब राजा शत्रु राजा के साथ असत्य का अथवा छल प्रपंच का व्यवहार करता था तब वह असत् साम नीति का प्रयोग होता था।[१]

---

१. कौ. अ., पृ. ७।१२१।१६

दान नीति प्रयोग के सम्बन्ध में यह निरूपण किया गया है कि जब किसी राजा के साथ समझाने-बुझाने से काम न चले और वह किसी तरह से भी ठीक रास्ते पर चलने के लिए तैयार न हो तो फिर राजा को दान नीति का प्रयोग करना चाहिए। इस नीति का सीधा सा सम्बन्ध कुछ लेन-देन से है। जब कोई मित्र राजा अथवा शत्रु राजा किसी भी तरह से समझाने-बुझाने से अपने वश में न हो तो कुछ ले देकर उसे अपने वश में करना चाहिए। राजा का उद्देश्य यह होना चाहिए कि जहाँ तक अपने विशेष हित में बाधा न आ रही हो वहाँ तक विग्रह को टालना चाहिए। इस रूप में मित्र राजा और शत्रु राजा के प्रति कुछ ले देकर अपना काम चलाने की नीति का प्रयोग करना चाहिए। इस नीति का प्रयोग अपने मित्र राजा को मित्र बनाये रखने के लिए भी किया जाना चाहिए और कोई शत्रु बड़ा आघात न कर पाये इसलिए भी इसका प्रयोग करना चाहिए। आचार्य कौटिल्य ने यह लिखा है कि दाम नीति इसलिए महत्त्वपूर्ण है क्योंकि इसके प्रयोग से उन छोटे राजाओं और सामन्तों को भी अपने वश में किया जा सकता है जो अपेक्षाकृत कम उपलब्धि में भी संतुष्ट हो जाते हैं।[1] इससे अभिप्राय यह है कि दाम नीति का प्रयोग उनके साथ की किया जा सकता है जो यद्यपि राजा से विग्रह नहीं कर सकते हैं तथापि राजा की अपेक्षा शक्ति तथा साधन में छोटे होते हैं तथापि राजा को भी उनके संतोष का ध्यान रखना चाहिए। वे इतने असंतुष्ट न हों कि कभी राजा के सामने समस्या खड़ी कर दें। इसके लिए यह आवश्यक होता है कि राजा दाम नीति से उन्हें संतुष्ट करें।

---

१. हिरण्ययोगं मित्रं शेषः। नित्यो हिरण्येनयोगः कदाचित् दण्डेन दण्डश्च......प्राप्यमिति। कौ. अ., पृ. ६०६

भेद नीति का स्वरूप स्पष्ट करते हुये कौटिल्य ने यह लिखा है कि जो शत्रु राजा हैं यदि वे परस्पर संगठित हैं तो उनमें किसी प्रकार का भेद डलवा दिया ज़ाये। अर्थात् राजा को चाहिये कि वह शत्रु राजाओं पर निगाह रखें और शत्रु राजा यदि संगठित हो रहे हों तो उनके बीच में अविश्वास उत्पन्न करके भेद के बीज बपन करे। कौटिल्य का यह मत है कि शत्रु पक्ष यदि कमजोर रहता है तो राजा को शासन करने में सुविधा रहती है। यदि राजा की भेद नीति सफल रही तो शत्रु राजा थोड़े बल से ही परास्त हो जाता है। आचार्य कौटिल्य ने इस सन्दर्भ में यह लिखा है कि जो राजा शत्रु पर विजय प्राप्त करना चाहता है तो उसे चाहिये कि वह सामन्त, आटविक शत्रु राजा का सम्बन्धी अथवा शत्रु राजा के पुत्र को अपने वश में करके उसके द्वारा कोष, सेना और भूमि आदि को लेकर भेद उत्पन्न करवा दे। इस दृष्टि से वह अपने शत्रु पर साधारण रूप में ही विजय प्राप्त कर सकेगा और उसे अपने वश में कर सकेगा।[१]

कौटिल्य दण्ड नीति पर अपना मन्तव्य देते हैं और कहते हैं कि जिस किसी तरह से भी शत्रु राजा का दमन करना दण्ड नीति है। जो राजा किसी प्रकार से साम, दाम और भेद नीति से अपने वश में आवे उसे दण्ड देकर ही अपने वश में करना चाहिये। इस सम्बन्ध में कौटिल्य लिखते हैं कि शक्तिशाली राजा प्रकाश युद्ध, कूट युद्ध और तूष्णी युद्ध के द्वारा शत्रु को दण्डित करें और उसे अपने वश में करे। कौटिल्य ने लिखा है कि निर्बल राजा को धन देकर और सबल राजा को दण्ड देकर उसे अपने वश में करना चाहिये।[२]

---

१. कौ. अ., पृ. ६५२
२. वही , पृ० ६५१

शत्रु पर आक्रमण :-

हमारी परम्परा यद्यपि शान्ति और सौहार्द की रही है किन्तु जब भी किसी ने अनीति और अन्याय का व्यवहार किया है तब उसके साथ युद्ध में खड़े हो जाने में भी किसी ने संकोच नहीं किया। यदि वेदों और दानवों के विग्रह का उल्लेख है तो बाल्मीकि रामायण और महाभारत की कथा भी अन्याय के विरुद्ध न्याय की विजय की गाथा है। बाल्मीकि रामायण में जहाँ ईश्वर ने स्वयं अवतार लेकर युद्ध किया और अन्यायी को पराजित करके न्याय की विजय गाथा का सूत्रपात किया वहीं पर महाभारत में श्रीकृष्ण ने स्वयं युद्ध के औचित्य का प्रतिपादन किया। इसलिये मनु और याज्ञवल्क्य आदि युद्ध के औचित्य को स्वीकार करते हैं और भगवान श्रीकृष्ण यह कहते हैं कि युद्ध में जो वीर गति प्राप्त करता है स्वर्ग के द्वार उसके लिये खुले होते हैं।[१]

आचार्य कौटिल्य ने भी युद्ध की अनिवार्यता को एक प्रकार से स्वीकार किया है और यह मत व्यक्त किया है कि जो राजा अपने मन में विजय की इच्छा रखते हैं उनके लिये युद्ध करना अपरिहार्य होता है अर्थात् वे युद्ध करके ही विजय श्री पा सकते हैं और यश के भागीदार बन सकते हैं। इसी तरह से राजा अपने राज्य की रक्षा कर सकेगा। जब वह समर्थ होकर युद्ध के लिये तत्पर रहेगा भले चाहे उसे युद्ध न करना पड़े। दूसरी स्थिति यह है कि राजा यदि यशस्वी होना चाहता है तो तब भी उसके लिये यह जरूरी होगा कि वह युद्ध में प्रवृत्त रहे और युद्ध के द्वारा विजय प्राप्त करके यश का भागीदार बने।

---

१. भ० गी० २/३२; म०स्मृ० ७/२००

युद्ध की अपरिहार्य स्थिति के विषय में अन्य और भी मत इसी प्रकार के हैं जिनका उपयोग आचार्य ने किया है। कौटिल्य ने एक स्थान पर यह लिखा है कि राजा जब ये देखे कि उसका शत्रु व्यसनों में फंसा है उसकी सेना के दुर्व्यवहार से उसकी प्रजा उससे विमुख हो गई है। शत्रु, अग्नि, जल और संक्रामक रोगों पर नियन्त्रण नहीं कर पा रहा, अपने कर्मचारियों और कोष की रक्षा नहीं कर पा रहा, तब वह विजय की कामना से उस राजा पर आक्रमण करें।[१]

आचार्य कौटिल्य यह लिखते हैं कि जब कोई राजा यह देखे कि उसका शत्रु राजा उससे अधिक बलवान है और वह अकेले उस पर विजय नहीं पा सकता तो वह दूसरे बलवान राजाओं का सहयोग प्राप्त करके अपने से अधिक समर्थ राजा के ऊपर भी आक्रमण कर सकता है। यदि राजा यह देखे कि वह और अधिक संशय करके अर्थात् शक्ति का संचय करके अपने से अधिक समर्थ राजा को परास्त कर सकता है। तो वह ऐसा करने में भी संकोच न करें।[२]

इस रूप में हम यह देखते हैं कि आचार्य कौटिल्य अपने राज्य की रक्षा करने के उद्देश्य से, अपने राज्य का विस्तार करने के उद्देश्य से पृथ्वी पर अपना अधिकार बढ़ाने से तथा परस्पर विवाद हो जाने की दृष्टि से राजा दूसरे राजा पर आक्रमण कर सकता है। आज की परम्परा में भी हम देखते हैं कि एक दूसरे राज्य को दबाने की दृष्टि से अनेक देश परस्पर मिलकर युद्ध करते हैं।

---

१. कौ० अ० पृ० ५७०
२. वही; पृ० ५७१

सन्धि और सन्धि नियम :-

कौटिल्य ने राजा के राज्य संचालन के लिये जिन छह गुणों का कथन किया है उसमें एक गुण सन्धि का अभिप्राय है व्यवस्था अपने अनुरुप स्थापित करना। सन्धि की व्यवस्थाओं में वे यह लिखते हैं कि कोई राजा यदि अपने पड़ोसी राजा से हीन है तो उसे उससे सन्धि कर लेनी चाहिये। इसी तरह से यदि कोई राजा दुर्बल है और अन्य कोई सबल राजा उस पर आक्रमण करता है तो दुर्बल को झुक जाना चाहिये। इस प्रकार की स्थिति को कौटिल्य ने सन्धि के रूप में प्रस्तावित किया है और उन्होंने इस सन्धि को तीन तरह का बताया है। इन तीनों प्रकार की सन्धियों में राजा अपनी दुर्बलता का अनुभव करते हुये अपनी सेना की उत्तम टोली को लेकर स्वयं उपस्थित हो जावे, तब आत्मामिष सन्धि कही जाती है। जब राजा ऐसी स्थिति आने पर स्वयं उपस्थित नहीं होता है और अपने सेनापति अथवा अमात्य को भेजता है तो वह आत्मरक्षण नामक सन्धि कहलाती है। जब ऐसे राजा की ओर से कोई दूसरा आक्रमण करने की दृष्टि से अथवा राजा स्वयं आक्रमण करने की दृष्टि से अपनी इच्छानुसार स्वयं कहीं चला जाये तो वह अदृष्ट पुरुष सन्धि होती है। इस सन्धि को दण्ड मुख्यात्यरक्षण सन्धि कहते हैं।[१] इस प्रकार की सन्धियों का विवरण कौटिल्य ने अपने ग्रन्थ में विस्तार से दिया है और इसके पीछे यह अभिप्राय स्पष्ट किया है कि विपरीत परस्थितियाँ होने पर राजा अपनी रक्षा का और राज्य की रक्षा का ऐसा उपाय करें जिससे सभी प्रकार से उसका निर्वाह हो जावे।

---

१. एके नान्यत्र यातव्यं स्वयं दण्डेन वेत्ययम्।
अदृष्ट पुरुषः सन्धिः दण्ड मुख्यात्म रक्षणः।। कौ.अ. पृ. ५६३

आचार्य कौटिल्य ने इससे भी अधिक सन्धियों के स्वरूप पर पर्याप्त मात्रा में विचार किया। इस विचार में उन्होंने यह लिखा है कि जिसमें सेना के साथ सन्धि होती है वह दण्ड प्रणत सन्धि कही जाती है। जो सन्धि कोष के लिए होती है वह परिक्रय सन्धि के रूप में जानी जाती है। अन्य आचार्यों ने कामन्दक की सन्धियों को लेकर अपना मन्तव्य प्रकट किया है। उनका मन्तव्य यह है कि उपहार देना ही सन्धि है। इसमें उनका यह मानना है कि मित्र सन्धि उपहार के अन्तर्गत नहीं आती। वे मैत्र, परस्परोपकार, सम्बन्धज और उपहार नाम की सन्धियों का उल्लेख करते हैं और इस रूप में उनके नीति शास्त्र में सन्धियों का कथन यथोचित रूप में किया गया है।[1] कौटिल्य ने यह भी स्पष्ट किया है कि जब कोई निर्बल राजा बलवान राजा के साथ सन्धि करता है तब बलवान राजा विजयी राजा होता है इसलिए निर्बल राजा को चाहिए कि वह बलवान राजा को सेना, कोष और भूमि आदि देकर उससे सन्धि करें। इससे राजा को दण्डोपनत, कोषोपनत और देशोपनत प्रकार की सन्धियाँ करके अपने विषय में तथा राज्य के विषय में विचार करना चाहिए।[2]

इस प्रकार की सन्धियों का जब हम प्राचीन परम्परा में अवलोकन करते हैं तब हम यह देखते हैं कि रामायण तथा महाभारत काल में भी इस प्रकार की सन्धियाँ होती थीं। बाल्मीकि रामायण में रावण से त्रस्त होकर विभीषण ने स्वयं को श्रीराम के सामने प्रस्तुत कर दिया था। यद्यपि इसमें किसी प्रकार के सन्धि नियमों का उल्लेख नहीं किया गया है तथापि यह संकेत वहाँ पर मिलता है।

---

१. का. नी. ६।२१-२२, ६।२०

२. कौ. अ., पृ. ५६६

कि श्रीराम ने विभीषण को राज्याधिकार देने का वचन दिया था। एक विद्वान् इस विषय में यह मत व्यक्त करते हैं कि विभीषण का श्रीराम के समक्ष आना और श्रीराम का बिना किन्हीं शर्तों के विभीषण को संरक्षण देना श्रीराम की शरणागति का ही स्वरूप है जिसमें किसी भी प्रकार की स्वार्थ भावना नहीं थी। इसलिए विभीषण एक विश्वस्त मित्र की तरह श्रीराम के साथ व्यवहार करता है।[1]

आचार्य कौटिल्य ने मित्र सन्धियों का विचार भी किया है और यह कहा है कि इस प्रकार की सन्धि को हम मित्र सन्धि कह सकते हैं। वह यह लिखते हैं कि जब दो राजा मित्र यह कहें कि हम और तुम दोनों मिलकर मित्र को लाभ पहुँचायें तब इसे सम सन्धि कहते हैं। इस सन्धि में एक को मित्रलाभ होता है और दूसरे को हिरण्यलाभ अथवा भूमि का लाभ होता है। यदि इस सन्धि में पहले की जो निश्चित लाभ की आवश्यकता थी अगर इससे अधिक लाभ होता है तो इसे आर्य सन्धि कहते हैं।[2] कौटिल्य लिखते हैं कि जहाँ दो राजा परस्पर मिलकर यह विचार करें कि हम और तुम मिलकर यह भूमि प्राप्त करेंगे तो इस प्रकार की सन्धि को भूमि सन्धि कहते हैं। ऐसी सन्धि में जो गुणी सेवकों के द्वारा धन लाभ करता है, वह विशेष लाभ का भागीदार होता है।

---

१. वा० रा० रा० वि०; पृ० २०२

२. कौ० अ० ; पृ० ६०३

इसी तरह से जब विजित राजा और विजयी राजा मिलकर यह निश्चय करें कि वे दोनों मिलकर खाली भूमि में उपनिवेश बनायेंगे और उसमें लोगों को बसाकर क्षेत्र निर्माण करेंगे तब वह अनवसिक सन्धि कहलाती है। कौटिल्य ने लिखा है कि इस सन्धि में जो राजा बुद्धिमान होता है वह ऐसी भूमि का चयन करता है और ऐसी भूमि को लेने का प्रयत्न करता है जो भूमि सम्पन्न होती है। इसी तरह जो राजा समझदार होता है वह ऐसी भूमि को बसाने के लिये अपने सभी प्रकार के साधनों का उपयोग करता है और अधिकतम लाभ में रहता है।[१]

इन सन्धियों के अतिरिक्त कौटिल्य ने एक कर्म सन्धि नामक सन्धि का विवरण दिया है उसमें उन्होंने यह लिखा है कि जब दो राजा आपस में मिलकर यह निर्णय करते हैं कि वे दोनों मिलकर दुर्ग बनायेंगे तो इस सन्धि को कर्म सन्धि कहा जाता है।[२]

सन्धियों के विषय में आचार्य कौटिल्य ने लिखा है कि जो सन्धि शपथ पूर्वक होती है वह विश्वसनीय और स्थायी होती है उसके टूटने से पर लोक में पाप मिलने का भय नहीं रहता है।[३] इसलिये ऐसी सन्धि जल्दी-जल्दी टूटती नहीं है। कौटिल्य अर्थशास्त्र में एक सन्दर्भ ऐसा है जिसमें यह कहा गया है कि राजा कभी-कभी अपने पुत्र को बन्धक बनाकर सन्धि करते थे। इस विषय में यह विवरण दिया गया है कि यदि किसी निर्बल राजा ने अपने पुत्र को बन्धक रखकर सन्धि की है तो जब वह सबल हो जाये और शक्ति सम्पन्न हो जाये तो अपने बन्धक पुत्र को मुक्त करा लेवें।[४]

---

१. कौ. अ., पृ. ६११
२. वही; पृ० ६१७
३. वही; पृ० ६५७
४. वही; पृ० ६६१

जनपद और उनकी स्थापना :-

जिस क्षेत्र को प्रचीन समय में आर्य क्षेत्र कहा जाता था वह एक बहुत बड़े भू-भाग पर बसा हुआ था। यदि कोई भी उस समय के भौगोलिक क्षेत्र को जानना चाहे तो इसका एक मात्र उपाय यह है कि वह प्राचीन सन्दर्भों में प्राप्त कुछ नामों को जान लेवें और उन्हीं के आध ार पर इस भूभाग के विस्तृत क्षेत्र को जाने। इस जानकारी के लिए क्षेत्र से सम्बन्धित प्राचीन साहित्य में कुछ नाम अवश्य प्राप्त होते हैं। उस समय राज्यों का जिस प्रकार का राजनैतिक गठन होता था उसमें गृह अथवा कुल मूल में होता था। बाद में विश, जन और राष्ट्र की संरचना हुई।[१] इस सम्बन्ध में जो उल्लेख मिलते हैं तदनुसार विश से बड़ा जन कहा जाता था इसलिए 'पंच जनाः' का प्रयोग हुआ है और यह कहा गया है कि जन का भोक्ता होता था।[२]

बाद के ग्रन्थों में जैसे कि ब्राह्मण ग्रन्थों में और आरण्यकों में इस शब्द का प्रयोग स्पष्टता के साथ हुआ है।[३] जैसे कि एक स्थान पर हिमवान क्षेत्र के लिए जनपद शब्द का प्रयोग किया गया है। जनपद के लिए वहाँ पर जो अर्थ लिया गया है उसका अभिप्राय जनों की बस्ती के लिए है।[४] जबकि दूसरे स्थान पर इस शब्द का प्रयोग सम्पूर्ण देश का द्वेवतक प्रतीक होता है।[५] इस रूप में प्रारम्भ से लेकर ही जागरूकता दिखायी देती है और किसी न किसी रूप से यह देखा जा सकता है कि राजनैतिक चेतना में यह गठन प्रारम्भ से ही होता चला आ रहा है।

---

१. हि. स., पृ. ६६
२. ऋक् १०।८४।२, ३।४३।१२
३. श. ब्रा. १३।४।२।१
४. ऐ. आ. ८।१४।५
५. वृ. उ. २।१।२०
६. तै. ब्रा. २।३।६।६

उपनिषदों के अन्य जो सन्दर्भ हैं उनके आधार पर यह कहना सम्भव होता है कि उस समय जो समस्त जातियाँ होती थीं वे अनेक ग्रामों का अन्तर्भाव करके जनपदों का गठन कर लेती थीं। इसीलिए एक स्थान पर ग्राम के समुदायों का नाम जनपद कहा गया है।[1] एक विद्वान् का यह मत है कि तब जातीय आधार पर ही जनपदों का गठन होता था और जिस जाति का जो जनपद होता था उसी का प्रभुत्व वहाँ पर होता था। इन विद्वानों ने यूनान का उदाहरण देकर यह कहा है कि वहाँ पर पुर अथवा कबीलों से ही जनपद का विकास हुआ।[2]

आचार्य कौटिल्य ने जनपदों के सम्बन्ध में और इनके गठन के विषय में अपने मन्तव्य को स्पष्ट रूप से लिखा है। वे यह मत व्यक्त करते हैं कि किसी भी राजा को शासन व्यवस्था की दृष्टि से सम्पूर्ण राष्ट्र को दो भागों में विभक्त कर देना चाहिए। इसका एक भाग पुर होवे और दूसरा भाग जनपद होवे। पुर से उनका अभिप्राय नगर, दुर्ग और राजधानी से है जबकि शेष राष्ट्र का अभिप्राय जनपद से है। इसलिए वे पुरों और जनपदों के वर्णन में पृथक्-पृथक् दृष्टिकोण प्रस्तुत करते हैं और जहां वे पुर के स्वरूप और उसके निर्माण में अपना अलग दृष्टिकोण प्रस्तुत करते हैं वहीं वे जनपद के स्वरूप का कथन भी भिन्न दृष्टि से करते हैं। कौटिल्य अपने अर्थशास्त्र की रचना राजनैतिक दृष्टि से करते हैं इसलिए पुर और जनपद का लक्षण स्वाभाविक रूप से भिन्न है जिसमें पुर पृथक् है और जनपद पृथक् है।

---

१. क. ४।२।१

२. पा. का. भा., पृ. ४६

कौटिल्य ने सबसे छोटी बस्ती का नाम ग्राम किया है। इस ग्रामों के संगठन को संग्रहण के नाम से सम्बोधित किया है और यह कहा है कि वहाँ पर एक राजकीय कार्यालय होना चाहिए।[1] फिर वे दस-दस ग्रामों के क्रम से दो सौ ग्रामों का संगठन करके एक क्षेत्र के निर्माण की बात करते हैं।[2] फिर वे चार सौ ग्रामों की व्यवस्था करके उसे द्रोण मुख की संज्ञा देते हैं। कौटिल्य ने यह लिखा है कि जपनद के कुछ अन्तराल पर व्याध, सबर, पुलिन्द, चाण्डाल और अन्य वनचर जातियों को बसाकर वहाँ की शासन व्यवस्था को मजबूत किया जाना चाहिये।[3]

जनपदों के निर्माण के विषय में जो कौटिल्य लिखते हैं उसके अनुसार यह अभिमत है कि जनपद को ऐसी जगह पर बसाना चाहिये जहाँ पर श्रम करके अधिक उन्नति प्राप्त की जा सके। साथ ही वह ऐसा स्थान हो जहाँ की भूमि खनिज सम्पदा से युक्त हो और जिस खनिज सम्पदा से न केवल राजा का राज्य सम्पन्न होवे अपितु प्रजा भी लाभ की अवस्था में रहे।

इस रूप में कौटिल्य जनपद के निर्माण के लिये ऐसे स्थान का संकेत भी करते हैं जो स्वास्थ्यप्रद हो तथा जहाँ रहकर प्रजा सम्पन्न होकर अपने द्वारा दिये जाने वाले करों को चुका सके और राजा की संरक्षा में निरापद भाव से रह सके। कौटिल्य की दृष्टि से ऐसा ही जनपद लाभकारी होता है।

---

१. कौ०अ०; पृ० ६३
२. वही; पृ० ६१
३. वही; पृ० ६४

दुर्ग निर्माण :-

राजा का राज्य जहाँ आन्तरिक रूप से सुरक्षित रहे वहीं बाह्य रूप से भी वह सुरक्षित रहे इसके लिये कौटिल्य ने दुर्ग निर्माण की व्यवस्था का संकेत भी किया है। उन्होंने लिखा है कि जपनद की सीमाओं की चारों दिशाओं में राजा युद्ध के लिये उचित दुर्गों का निर्माण करे। कौटिल्य के अनुसार औदक, पार्वत, धान्वन और वन दुर्ग के रूप में चार प्रकार के दुर्ग होते हैं। जो चारों ओर से जल से घिरा हुआ होता है और गहरे तालाबों से आवृत होता है वह औदक दुर्ग कहलाता है। जो बड़ी-बड़ी चट्टानों पर स्थित होता है और कन्दराओं से सुरक्षित होता है उसे पार्वत दुर्ग कहते हैं। जो जल और घास से रहित होता है तथा ऊसर भूमि में बना होता है वह धान्वन दुर्ग है। जो काँटेदार सघन झाड़ियों से घिरा है और शत्रु के लिये कठिन है वह वन दुर्ग हैं।[1]

इस सम्बन्ध में कौटिल्य ने एक पूरे अध्याय में वास्तु शास्त्र का महत्व देते हुये प्रत्येक दुर्ग के निर्माण का विस्तृत विवरण दिया है और यह अपेक्षा की है कि दुर्ग ऐसा बनवाया जाना चाहिये कि जो शत्रु के आक्रमण होने पर अनेकों महीनों तक प्रजा की और राजा की रक्षा कर सके।

---

१. चतुरर्दिशं जनपदान्ते साम्परायिकं दैव कृतं दुर्गं कारयेत्।
अन्तरद्वीपं स्थलं व निम्नावरुद्धमौदुकं, प्रास्तरं, गुहां व पार्वतं निरुदकस्तम्भ मिरिणं व धान्वनम्। खञ्जनोदकं स्तम्भगहनं व वनदुर्गम्।।
कौ०अ०; पृ० १०३

कोशगृह और कोषाध्यक्ष :-

न केवल प्रजा का अपितु राजा का भी सम्पूर्ण कार्य अर्थ के बिना नहीं चलता। सभी के जीवन में अर्थ की महत्ता स्वीकृत है और कोई भी ऐसा व्यक्ति नहीं है जो बिना अर्थ के अपना कार्य सञ्चालित कर सके। इसके लिये यह आवश्यक होता है कि व्यक्ति अर्थागम पर निगाह रखे और उसका नियोजन विधिपूर्वक करे। राजा के ऊपर क्योंकि प्रजा का दायित्व होता है और राजा के ऊपर प्रजा अपनी सुख तथा समृद्धि के लिये निर्भर है इसलिये राजा को यह आवश्यक होता है कि वह उचित रीति से अर्थागम का उपाय करे और अर्थ के नियोजन के लिये कोषाध्यक्ष की नियुक्त करे। राजा के लिये आवश्यक है कि वह राज्य सञ्चालन के लिये कोश का निर्माण करे और उस कोश की व्यवस्था के लिये कोषाध्यक्ष को दायित्व दे। आचार्य कौटिल्य ने कोशगृह बनाने का विधान दिया है और लिखा है कि कोषाध्यक्ष कोशगृह, पण्य गृह, कोष्ठागार, कुट्यगृह, शस्त्रागार और कारागार का निर्माण करवाये।[1] इन सबका निर्माण कराने के लिये कोषाध्यक्ष को जिसे सन्निधाता कहा गया है इसलिये दायित्व दिया गया है क्योंकि वही कोश का स्वामी होता है उसे ही अन्न का संरक्षण करना है उसे ही इन सबकी सुरक्षा करनी है। इसलिये शस्त्रागार और कारागार बनावाने के लिये उसे ही दायित्व दिया गया है।

---

१. सन्निधाता कोशगृहं पण्यगृहं, कोषठागारं, कुप्यगृहमायुधागारं, बन्धनागारं च कारयेत्। कौ० अ०; पृ० ११५

कौटिल्य ने कोषाध्यक्ष के कर्तव्यों में कोशगृह के निर्माण के साथ-साथ शस्त्रागार के निर्माण कराने के अधिकार का भी उल्लेख किया है। कोषगृह के निर्माण के विषय में उन्होंने जो विवरण दिया है उसके अनुसार यह लिखा है कि शीलन रहित स्थान में एक चौरस गड़ढा खुदवाकर चारों ओर से उसकी दीवारों और फर्श को मोटी और मजबूत शिलाओं से चुनवाना चाहिये। उसके बीच में मजबूत लकड़ियों से पिंजरे जैसे खाने बने होने चाहिये, नीचे आने-जाने के लिये सीढ़ियां तथा द्वार पर देवताओं की मूर्तियां होवें। वह ऐसे स्थान पर बना हो जिसके चारों तरफ सम्पन्न लोग अपने भवन बनाकर रह रहे हों। इसी तरह से वह लिखते हैं कि जनपद के मध्य भाग में प्राण दण्ड पाये हुये लोगों द्वारा एक गुप्त खजाने का निर्माण भी कराना चाहिये जो आपत्ति के समय उपयोग में आ सकता हो।[१]

पण्य गृह अथवा कोषागार के निर्माण का विवरण देते हुये कौटिल्य लिखते हैं कि वह ऐसा हो जो चारों ओर के भवनों से घिरा हुआ हो जिसमें आने जाने के लिये केवल एक ही दरवाजा हो, अनेक कक्ष, अनेक मंजिलें हों खुले हुये चबूतरों वाला हो, जिसमें विक्रय की जाने वाली वस्तु का पर्याप्त स्थान हो।[२] इस रूप में कौटिल्य कोषागार की व्यवस्था के सम्बन्ध में ऐसा निर्देश करते हैं जिसके अनुसार कोश की सुरक्षा हो सके और राजा के राज्य की व्यवस्था विधिपूर्वक संचालित हो सके।

---

१. जनपदान्तेध्रुवनिधिमापदर्थमभिव्यक्तैः पुरुषैः कारयेत्।
कौ०अ०;पृ० ११५

२. वही; पृ० ११६

कौटिल्य ने कारागार बनाये जाने के लिए निश्चित निमय का उल्लेख किया है। उन्होंने यह लिखा है कि जो धर्मस्थ (न्यायाधीश) और महायान (सन्निधाता, समाहर्ता) के द्वारा सजा प्राप्त व्यक्ति होवें उन्हें कारागारों में रखा जाना चाहिए। कारागार में स्त्री और पुरुष के रहने की पृथक्-पृथक् व्यवस्था होनी चाहिए और उसमें बाहर से आने-जाने के लिए पर्याप्त मात्रा में मार्ग होने चाहिए।[१]

इन स्थानों के अतिरिक्त और जो भी स्थान हैं उनके लिए कौटिल्य उदारता पूर्वक नियम का विधान करते हैं और लिखते हैं कि उन स्थानों में चारों तरफ सुरक्षा के लिए परिवार, कुये और स्नानागार बनवाने चाहिए। इसी तरह वहाँ पर यह व्यवस्था की जानी चाहिए जिससे विष और अग्नि आदि से वहाँ की रक्षा हो सके। कौटिल्य ने अनेकानेक देवताओं के पूजन का भी विधान किया है जिसमें यह कहा है कि कोषगृह में कुवेर का पूजन होना चाहिए कोशागार में श्री की स्थापना और पूजन होना चाहिए। कुट्यगृह मे विश्वकर्मा का, शस्त्रागार में यम का और वन्दीगृह में वरुण का पूजन होना चाहिए।[२] इस रूप में हम यह देखते हैं कि कौटिल्य कोषाध्यक्ष और कोशगृह के सम्बन्ध में सावधानी से विचार करते हैं और ऐसा विधान करते हैं जिसमें राज्य में कठिनता की स्थिति उत्पन्न न हो।

---

१. धर्मस्थीयं महामात्रीयं विभक्तस्त्रीपुरुष स्थानमपसार्तः।
सुगुप्तकक्ष्यं बन्धनागारं कारयेत्। कौ० अ०;पृ० ११६

२. सर्वेषां सालाखातोदपानवच्च स्नानगृहाग्नि विशतृणमार्जार नकुललक्षाः स्वदैवपूजनयुक्ताः कारयेत्। वही, पृ० ११६

कोषागार का पद राज्य के लिए महत्वपूर्ण पद होता है इसलिए कौटिल्य ने इस पर भी विचार किया है कि कोषाधिकारी यदि अन्याय के मार्ग पर चलता है और कोश में वह किसी तरह से अनाचरण करता है तो उसे राजा के द्वारा दण्ड भी दिया जाना चाहिए। उन्होनें लिखा है कि यदि कोषाध्यक्ष कोश का अपहरण करें तो उसे प्राणदण्ड दिया जाना चाहिए क्योंकि ऐसी अवस्था में वह प्राणदण्ड पाने का अधिकारी है। यदि इस काम में उसके अधीनस्थ सहयोगी होवें तो उन अधीनस्थों को उसका आधा दण्ड दिया जाना चाहिए। अर्थात् जितना दण्ड कोषाधिकरी को दिया जाये उससे आधा उसके अधीनस्थों को दिया जाये। किन्तु कौटिल्य यह लिखते हैं कि सावधानी यह रखनी चाहिए कि कोषाधिकारी के अधीनस्थ यदि अपराध में सहभागी नहीं हैं तो उन्हें दण्ड नहीं दिया जाना चाहिए। ऐसी अवस्था में उनका सामाजिक अपमान करके और उनका उपहास आदि करके उन्हें छोड़ देना चाहिए। यदि किसी चोर ने कोश का अपहरण किया है तो उसे कष्टकर प्राण दण्ड दिया जाना चाहिए।

कोषाधिकारी के लिए यह विधान है कि वह कोश की आय को अच्छी तरह से जानें। इस सम्बन्ध में यदि कोई उससे सौ वर्ष की पीछे की आय भी पूछता है तो भी कोषाधिकारी को इसकी जानकारी होनी चाहिए और उसे तत्काल उत्तर देने में सक्षम होना चाहिए।[1]

---

१. बाह्यमाभ्यन्तरं चायं विद्याद्वर्षशताब्दी।
यथातुष्टो न सज्जेत् व्यय शेषं च दर्शयेत्।। कौ० अ०; पृ० ११८

कृषि और व्यापार :-

प्राचीन समय से ही इस देश का आधार कृषि रहा है। वैदिक ऋषियों ने आरम्भ में वेदों में जिन देवताओं की प्रार्थना की वे अधिकतम कृषि से सम्बन्धित थे। जैसे कि क्षेत्रपति, इन्द्र और पर्जन्य। कृषि का कार्य मंगलमय ढ़ंग से हो। इसके लिए वे देवताओं की प्रार्थना करते थे और यह चाहते थे कि पृथिवी से प्राप्त होने वाली सम्पत्ति सभी के लिए सुखकारी हो। वे एक स्थान पर क्षेत्रपति की प्रार्थना करते हुये कहते हैं कि जिस प्रकार गाय दूध देकर सभी को तृप्त करती है उसी तरह तुम मधुस्रावी, पवित्र और घी के तरह जल प्रदान करो। तुम अमरता के स्वामी हो इसलिए तुम हम पर कृपा करो और हमारे वृक्ष, जल, अन्तरिक्ष तथा क्षेत्र सभी मधुर बनें।[1] एक दूसरे स्थान पर यह सन्दर्भ आया है कि जिसमें यह कहा गया है कि मैं तुमसे जो खोदकर निकालता हूँ। वह शीघ्र ही तुममें उत्पन्न हो जायें।[2]

वेदोत्तर काल में भी महाभारत तथा वाल्मीकि रामायण जैसे महाकाव्य इस प्रकार के संकेत देते हैं जिसमें यह कहा गया है कि जो राष्ट्र कृषि और वाणिज्य का आश्रय लेता है वह सुखी सम्पन्न होता है।[3]

---

१. ऋक् ४/५७
२. अथर्व. १२/१/३५
३. म० भा० सभा० ५/६६; व० रा० अयो० १००/४३-४६।

कौटिल्य ने जब अर्थशास्त्र ग्रन्थ का आरम्भ किया है तो उन्होंने सबसे पहले विद्याओं के परिचय में कृषि का उल्लेख महत्वपूर्ण ढ़ंग से किया है। वे कृषि की महत्ता को स्थापित करते हुये यह लिखते हैं कि कृषि के मूल में सिञ्चन का बड़ा महत्व है। कृषि के मूल में यदि जल की उपलब्धता नहीं है तो कृषि लाभकर नहीं होती। आचार्य कौटिल्य ने लिखा है कि जिस क्षेत्र में तालाब न हों अथवा तालाबों में नदी से पानी न आता हो तो वहाँ कृषक रहट आदि का प्रयोग करके पानी प्राप्त करें और खेतों को सींच कर उनसे फसल लेवें। ऐसी स्थिति में कौटिल्य ने राजाओं को यह निर्देश किया है कि वे उस क्षेत्र से उतना ही कर वसूलें जितने से प्रजा कष्ट का अनुभव न करे।[१]

कौटिल्य ने कृषि की उन्नति के लिये अनेक प्रकार की योजनाओं का संकेत किया है और राजाओं के लिये यह निर्देश किया है कि वे नदियों पर बड़े-बड़े बांध बनवायें तथा वर्षा ऋतु का जल जलाशयों में भरवा दें। इस प्रकार के जलायशों में मछली, पक्षी, कमलदण्ड अथवा दूसरे प्रकार के जलचर हों। वे राजा के अधिकार में रहेंगे और राजा उन्हें प्राप्त करके अपने राज्य की आय में बढ़ोत्तरी करेगा।[२]

१. कौ० अ०; पृ० ३५८
२. वही; पृ० ६६

कृषि व्यवस्था के सम्बन्ध में कौटिल्य ने सीताध्याय नामक एक अध्याय भी लिखा है और उस अध्याय में कृषि से सम्बन्धित सभी प्रकार की बातों का विवेचन विस्तार से किया है। इसं अध्याय के प्रस्तुतीकरण में उन्होंने अपना यह नियम निर्देशित किया है कि राज्य की कृषि व्यवस्था की निगरानी के लिये सीताध्यक्ष की नियुक्ति की जानी चाहिये। राजा के राज्य में वही ऐसा अधिकारी होवे जो पूरी तरह से कृषि व्यवस्था का निरीक्षण करे और कृषि कार्य का सञ्चालन करे। कौटिल्य यह भी चाहते हैं कि वह अपने विषय का विशेषज्ञ तो हो ही उसे कृषि शास्त्र के साथ-साथ शुल्व शास्त्र अर्थात् मापन के विषय में भी विशेषज्ञ होना चाहिये। इसके साथ ही साथ वह कृषि विज्ञान का ऐसा विशेषज्ञ हो जिसे कृषि से सम्बन्धित छोटी सी जानकारी होने के साथ-साथ इस विषय की विशेष जानकारी हो।

आचार्य कौटिल्य यह लिखते हैं कि कृषि में यह भी महत्वपूर्ण है कि विविध प्रकार के बीज ठीक से संग्रहीत किये जायें और समय पर उन्हें ठीक से उपचरित करके बोया जाये। इसी से कृषक अन्न, फूल, फल, शाक, कन्द आदि प्राप्त कर सकते हैं। वे लिखते हैं कि ऐसे उन्नत प्रकार के बीजों को उस भूमि में बो देना चाहिये जो भूमि एक से अधिक बार जोती गई हो जिससे उसमें अधिकतम मात्रा में लाभ हो सके।[1]

---

१. बहुहलपरिकृष्टायां स्वभूमौ दासकर्मकरदण्ड प्रतिकर्तृभिः वापयेत्।
कौ० अ०; पृ० २३८

ऐसा प्रतीत होता है कि कौटिल्य को कृषि के सम्बन्ध में पर्याप्त विशेषज्ञता प्राप्त थी इसलिये वे होने वाली वर्षा के विषय में भी विस्तार से लिखते हैं। उन्होंने लिखा है कि जब श्रावण मास में पूरी वर्षा का एक हिस्सा बरस जावे और भाद्रपद मास में वही वर्षा दुगनी मात्रा में होवे तथा बाद में क्वांर में भी पानी बरसे तो यह मानना चाहिये कि उस वर्ष में फसल अच्छी होगी। क्योंकि ऐसी वर्षा फसल के अच्छे होने के संकेत करती है।[१] कौटिल्य ने यह भी संकेत किया है कि किस अन्न को कब बोना चाहिये तथा किस अन्न को पानी बरसने के पहले बोना चाहिये तथा किसे पानी बरसने के बाद बोना चाहिये। वे लिखते हैं कि जब कोई ऐसा विचार करके फसल बोता है तो उसे अच्छी मात्रा में उपज मिलती है।[२] उनका यह निर्देश है कि कृषक को चाहिये कि वह प्रत्येक ऋतु पर विचार कर ले और यह देख ले कि उसे पानी की सुविधा कितनी मात्रा में प्राप्त है। यही देखने के बाद और इसका विचार करने के बाद ही वे खेतों में अन्न बोने का संकेत करते हैं।[३]

कौटिल्य ने कृषि कार्य में लगे हुये मजदूरों के समबन्ध में पर्याप्त विचार किया है और यह भी विचार किया है कि किस फसल को किस स्थान पर रखना चाहिये और उसका संरक्षण किस प्रकार किया जाना चाहिये।[४]

---

१. कौ०अ०; पृ० २३९
२. वही; पृ० २४०
३. वही; पृ० २४१
४. वही; पृ० २४२, २४३, २४४

कृषि के साथ-साथ कौटिल्य व्यापार के स्वरूप में भी अपने विचार व्यक्त करते हैं क्योंकि इस संदर्भ में उन्होंने जो संकेत किया है उससे यह प्रतीत होता है कि तब का व्यापार राज्य के अधीन था। वे व्यापार की व्यवस्था करने के लिये एक संस्थाध्यक्ष की नियुक्ति का विधान करते हैं। उसके लिये निर्धारित कर्तव्यों में वे लिखते हैं कि वह अन्न आदि वस्तुओं का यथोचित रूप से आयात-निर्यात करे। व्यापार से सम्बन्धित तराजू, बांट और माप करने के अन्य जो पात्र हैं समय-समय पर उन सबका निरीक्षण करता रहे तथा नाप-तौल में गड़बड़ी न होने पाये।[1] संस्थाध्यक्ष के लिये यह भी नियम था कि वह अपने देश में तथा दूसरे देश में उत्पन्न होने वाली वस्तुओं का मूल्य तय करता था। उनकी बनवायी का समय, वेतन, ब्याज और भाड़ा आदि का खर्च निकालकर उन वस्तुओं के क्रय-विक्रय का मूल्य निर्धारण होता था।[2] इसके पीछे उद्देश्य यह था कि इससे व्यापारी को भी कोई हानि न हो और प्रजा के साथ भी कोई अन्याय न कर सके।

संस्थाध्यक्ष समुचित रीति से उत्पादन और परिवहन के खर्च निकालकर ऐसे मूल्य निर्धारण करे जिसे देकर प्रजा को यथोचित सामग्री प्राप्त हो सके और व्यापारी को न सीमा से अधिक लाभ हो न हानि प्राप्त हो।

१. कौ० अ०; पृ० ४२६
२. वही; पृ० ४३३

वस्तुओं का व्यापार समाज में एक प्रकार से उनका आदान-प्रदान सम्भवतः समाज में तब से प्रचलन में था जब से समाज किसी न किसी रूप में सभ्य और व्यवहारिक हुआ होगा। प्रारम्भिक संकेत जो प्राप्त होते हैं उनसे ऐसा लगता है कि तब अस्त्र-शस्त्र, खाद्य पदार्थ, वस्त्र ऐसे ही होते थे जिनका परस्पर आदान-प्रदान होता था किन्तु सिन्धु कालिक सभ्यता तक यह आदान-प्रदान अनेक वस्तुओं तक के लिये होने लगा और इसकी सीमा देश तक ही न रहकर विदेशों तक फैल गई।[१]

आचार्य कौटिल्य ने व्यापारिक स्वरूप का वर्णन किया है और उसमें यह निर्देश किया है कि तब का व्यापार प्रायः राज्य के अधीन होता था इसके लिये कौटिल्य ने अपने ग्रन्थ एक व्यापार अधिकारी की नियुक्ति करने का संकेत किया है इसे संस्थाध्यक्ष के रूप में कहा है। उसके लिये जिस कर्तव्य का कथन किया गया है उसके अनुसार वह अन्न आदि के आयात तथा निर्यात का यथोचित प्रबन्ध करता था और तराजू, बांट तथा माप के बर्तनों का निरीक्षण करता था। उसका यह दायित्व होता था कि वह इस प्रकार से सचेष्ट रहे जिससे नाप-तौल में किसी प्रकार की गड़बड़ी न होने पावे।[२]

---

१. प्रा० भा० सा० सां० भू०; पृ० ७४७
२. कौ० अ०; पृ० ४२६

संस्थाध्यक्ष ही इस प्रकार का अधिकारी होता था जो देश में अथवा दूसरे देश में उत्पन्न होने वाली वस्तुओं का मूल्य तय करता था। इस रूप में वह उनकी बनवायी का समय तय करता था, वस्तुओं के निर्माण में जो श्रमिक लगे रहते थे उनके वेतन का निर्धारण करता था, वस्तुओं को लाने और ले जाने में जो भाड़ा लगता था उसका निर्धारण करता था और इस प्रकार सभी खर्चे निकाल कर बाद में वस्तुओं के क्रय-विक्रय का मूल्य निश्चित करता था।[१] इस प्रक्रिया में वह यह ध्यान रखता था कि राज्य को किसी प्रकार से हानि न हो और प्रजा भी हानि से बची रहे।

कौटिल्य ने पण्याध्यक्ष नामक एक अधिकारी की और नियुक्ति करने का विधान अपने कौटिल्य अर्थशास्त्र में किया है। इसके लिये उन्होंने यह लिखा है कि वह ऐसे स्थल मार्ग का अवलोकन करे जिससे बिक्री के लिये वस्तुयें आ जा सकें। इसी तरह से वह ऐसे जल मार्ग को भी देखें जिनसे वस्तुयें लायीं जा सकें और वस्तुयें बिक्री के लिये बाहर भेजी जा सकें। वह यह देखें कि किस वस्तु की मांग ज्यादा है और किसकी लोकप्रियता है। उसी के अनुसार वह वस्तु के बेचने का समय निश्चित करें।[२]

---

१. कौ० अ०; पृ० ४३३
२. वही; पृ० २०१-२०२

कौटिल्य द्वारा दिये गये विवरण से संकेत मिलता है कि उस समय जहाँ स्वदेश में व्यापार होता था वहीं पर परदेश में भी व्यापार की व्यवस्था थी। पण्याध्यक्ष के लिये यह कहा गया है कि वह यह जाने कि जिन वस्तुओं को बाहर भेजना है और जिन वस्तुओं को अपने देश में मंगाना है उनके मूल्य में कितना अन्तर है। इसमें बिक्रीकर, सीमान्तकर, सुरक्षा कर और मार्गव्यय आदि का विचार कर यदि यह देखें कि वस्तुओं को बेचने से विदेश में लाभ नहीं मिलेगा तो वह उन वस्तुओं को संग्रहीत करके रखें और भविष्य में उनके बेचने की व्यवस्था करे।[१]

आचार्य कौटिल्य के समय व्यापारिक क्षेत्र में व्यापार के लिये प्रयोग में आने वाली वस्तुओं पर शुल्क लेने का प्राविधान था। तब उसके लिये एक अधिकारी भी नियुक्त होता था जिसे शुल्काध्यक्ष कहा जाता था। वह उन सभी वस्तुओं से शुल्क संग्रह करता था जो वस्तुयें व्यापार के लिये ले जायीं जातीं थीं अथवा व्यापार के लिये लायीं जातीं थीं।[२] इस रूप में शुल्काध्यक्ष उचित रीति से क्रय-विक्रय के निमित्त प्रयुक्त की जाने वाली वस्तुओं से शुल्क संग्रह करता था और राज्य की आय में सहयोग करता था।

---

१. कौ० अ०; पृ० २०३
२. वही; पृ० २२७

आचार्य कौटिल्य ने बिक्री की जाने वाली वस्तु में अन्न की गणना की है, पशु की गणना की है। साथ ही साथ शस्त्र, कवच, लोहा, रथ तथा रत्न आदि का उललेख किया है और उन्होंने इन सब पर शुल्क लेने का विधान भी किया है। कौटिल्य ने जिन नियमों का निर्देश किया है उसके आधार पर इनका बिक्री का विधान किया है और इनसे शुल्क लेने का विधान किया है। इसका अभिप्राय यह है कि वे राज्य की सम्पन्नता और राज्य का हित चाहते हैं।[1] वे राज्य के हित सम्पादन के साथ-साथ प्रजा का हित भी चाहते हैं और यह लिखते हैं कि कोई विष अथवा फल समाज के लिये हितकारी नहीं है तो राजा को चाहिये कि वह प्रजा के हित के लिये उसे नष्ट करवा दे। इसी प्रकार से यदि कोई वस्तु ऐसी है जिससे प्रजा का हित अधिक मात्रा में होता है और कठिनाई से प्राप्त होती है तो उस पर राजा चुंगी न लगावें।[2] कौटिल्य ने देश और विदेश के बीच सीमा शुल्क लगाने का प्राविधान किया है और यह लिखा है कि कोई यदि इस प्राविधान का उल्लंघन करता है तो वह दण्ड का भागीदार होता है।[3]

१. कौ० अ०; पृ० २३०
२. वही; पृ० २३१
३. वही; पृ० २२६

राष्ट्र और राज्य :-

राज्य और राष्ट्र को लेकर प्राचीन समय से ही विचार होता आया है कि राज्य और राष्ट्र में क्या समानता है और क्या विषमता। यदि इनका स्वरूप समान है तो फिर इनका प्रयोग पृथक्-पृथक् क्यों होता है? और यदि इनमें कोई विषमता है तो वह कितनी है और कैसी है?

इस संदर्भ में जो प्राचीन संकेत मिलते हैं उनका व्यापक भावनात्मक रूप होता है। जैसे कि एक संदर्भ में कहा गया है कि राष्ट्र में राजा, शूर, महारथी और धनुर्धर होवें।[1] इसी तरह का एक अन्य सन्दर्भ यह कहता है कि पृथिवी इस राष्ट्र को बल देवे।[2] एक आचार्य ने यह लिखा है कि राज्य के सभी अङ्गों का उद्भव राष्ट्र से होता है इसलिये राजा को चाहिये कि वह इस प्रकार का प्रयत्न करे जिससे राष्ट्र की बृद्धि होवे।[3]

राज्य के सम्बन्ध में जो कहा गया है उससे यह अभिप्राय निकलता है कि यह भी एक सार्वभौम सत्ता का प्रतीक होता था।[4] सम्भवतः यह परम्परा विक्रमादित्य से प्रारम्भ हुई। एक विद्वान् ने यह लिखा है कि किसी देश अथवा भू-भाग पर वहाँ के निवासियों के ऊपर किये जाने वाले शासन को राज्य कहते हैं।[5]

१. तै० सं० ७/५/१८/१
२. अथर्व० १२/१/२
३. का०नी० ६/३
४. वै०ओ० पृ० ४४५
५. हि० रा० शा० ; पृ० ३५

राज्य के सम्बन्ध में जो स्मृतिकारों ने लिखा है तदनुरुप इसके सात अंगों का कथन किया गया है। कौटिल्य ने भी यही संकेत किया है।[1] आचार्य कौटिल्य राजा और राज्य में ऐक्य स्थापित करके राज्य को निरूपित करते हैं।[2]

एक विद्वान् का यह निरूपण है कि राष्ट्र में अनेक राज्यों का अन्तर्भाव होता है। इसमें संघ विशेष के दर्शन होते हैं और वीरता, समृद्धि तथा सम्पन्नता के भाव मुखर होते हैं। राज्य में शासन की प्रधानता होती है जिसमें भाषा, संस्कृति, जाति और सम्पन्नता आदि के भाव गौण होते हैं।

यद्यपि राष्ट्र में भी राज्य और शासन का होना अपरिहार्य है तथापि राष्ट्र में एक भावनात्मक बन्धन होता है और इसी बन्धन में बंध ाकर प्रत्येक राज्य अपनी भाषा, परम्परा के प्रति गौरवान्वित होता है। राज्य की अपेक्षा राष्ट्र की एक पृथक् भाव भूमि होती है जो उसे व्यापक फलक देती है।[3] इस रूप में राज्य शासन का प्रतीक प्रतीत होता है जबकि राष्ट्र एक व्यापक फलक वाला दिखाई देता है।

---

१. म०स्मृ० ७/१५६; कौ० अ० ६/२
२. कौ० अ० ८/१२
३. अ० रा०; पृ० ५६

निष्कर्ष :-

पूर्व में दिये गये विवरणों के आधार पर यहाँ यह कहना संगत होगा कि कौटिल्य की व्यवस्था में जहाँ एक ओर राजा की भूमिका प्रभावी है वहीं दूसरी ओर प्रजा के प्रति वे उदार हैं। राजा स्वेच्छाचारी न हो जाये और प्रजा पर अन्याय न करने लगे एतदर्थ उन्होंने राजा के लिये साधु स्वभावी होना लिखा है। मन्त्रियों, पुरोहितों तथा अमात्यों की नियुक्ति का विधान किया गया है। इस क्रम में वे राजा के लिये निर्देश करते हैं कि राजा इन सबकी सलाह के बिना कोई कार्य न करे।

राजा प्रजा पर शासन करने के लिये भी अपनी मनमानी न करे और वह साम, दाम, दण्ड और भेद की नीति से जहाँ शत्रु और मित्र राजाओं के साथ व्यवहार करे वहीं वह नीति के इन अंगों से प्रजा का परिपालन भी करे। राष्ट्र समुन्नत रहे, व्यापारिक व्यवस्था विधिपूर्वक चलती रहे और राज्य सभी प्रकार से समुन्नत बना रहे इसके लिये जो भी नीति-नियम हो सकते थे कौटिल्य ने उन सबका कथन किया है और यह अपेक्षा की है कि जहाँ राजा अपनी मर्यादा में रहे वहीं प्रजा भी अनुशासित ढ़ंग से रहकर राष्ट्र की समुन्नति में सहयोगी बने। इस रूप में कौटिल्य की दृष्टि से सभी के लिये संयम और नीति का पालन करना आवश्यक है।
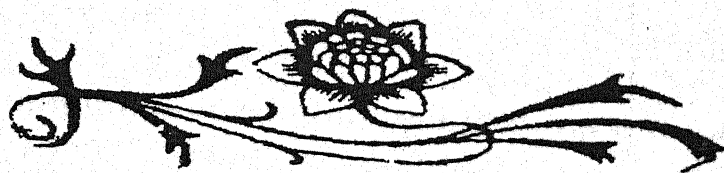
पंचम

अध्याय

पंचम अध्याय

सामाजिक तथा राजनीतिक दृष्टि का समकेतिक स्वरूप

प्राचीन समाज का कौटिल्य पर्यन्त विकास कौटिल्य कालिक वर्णाश्रम व्यवस्था तथा परिवार, राजा का प्रारम्भिक तथा कौटिल्य कालिक सामर्थ्य, राजा का कौटिल्य कालिक सामर्थ्य, नीति एवं दण्ड, शत्रु और सन्धि राजा और प्रजा का सामञ्जस्य, धर्म और समाज, समीक्षा और निष्कर्ष।

पञ्चम अध्याय

सामाजिक तथा राजनैतिक दृष्टि का समेकित स्वरूप
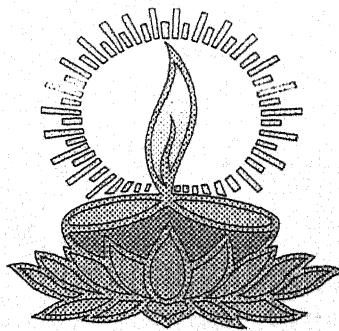
पञ्चम अध्याय

(सामाजिक तथा राजनैतिक दृष्टि का समेकित स्वरूप)

प्राचीन समाज का कौटिल्य पर्यन्त विकास :-

प्राचीन परम्परा का जो भी ज्ञान जिस किसी रूप में हमें प्राप्त होता है उसका आधार वैदिक साहित्य है। यदि किसी विषय पर हमें प्रामाणिक जानकारी प्राप्त करने में दुविधा होती है तो उसके लिये भी वेद ही मात्र ऐसे ग्रन्थ होते हैं जो हमारी दुविधा का निराकरण कर सकते हैं। यह विचार अनेक विद्वान् और मनीषी व्यक्त कर चुके हैं कि प्रारम्भ में स्वाभाविक रूप से समाज की कोई स्पष्ट परिकल्पना नहीं रही होगी। धीरे-धीरे अनेक विचारकों ने और समाज के मार्गदर्शकों ने समाज की व्यवस्था का और उसके स्वरूप का निर्धारण किया होगा। प्रारम्भ में व्यक्ति को लेकर समाज की व्यवस्था का और उसके स्वरूप का निर्धारण किया होगा। प्रारम्भ में व्यक्ति को लेकर समाज को लेकर और इस जगत् की जिज्ञासाओं को लेकर जो प्रश्न मन में उठते रहे हैं उनके अनुसार वेदों में इसके संकेत भी दिखायी देते हैं। वहाँ पर उत्पन्न हुई जिज्ञासाओं का स्वरूप इस प्रकार का रहा है जिसमें प्रारम्भ में जगत् के विषय में यह कहा गया कि सृष्टि के आदि में सत् था अथवा असत् था, देवता एक हैं अथवा अनेक, हम कौन हैं और कहां से आये हैं ?

विचारों के इस क्रम में संसार की उत्पत्ति का और सृष्टि की व्यवस्था का जो स्वरूप दिया गया उसमें यह कहा गया कि यहाँ सब कुछ ईश्वर स्वरूप है और उसी ईश्वर से प्रकट रूप में मनुष्य सृष्टि को उत्पन्न हुआ जानना चाहिये। इसमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और दास को समझना चाहिये। बाद में उपनिषद् कालीन तथा स्मृति कालीन समाज ने इस व्यवस्था का निरूपण विस्तार से किया और समाज का एक ढाँचा निर्धारित हुआ।

वेद तथा वेदोत्तर काल में वर्ण व्यवस्था और आश्रम व्यवस्था के रूप में समाज का संगठन किया गया था। इसमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के साथ दासों की गणना भी की गई थी इसीलिये वहाँ पर ''पंचजनाः'' शब्द का प्रयोग है।[१]

उपनिषद् कालिक समाज में जब सृष्टि की उत्पत्ति की बात हुई तो मैथुनी सृष्टि का वर्णन किया गया और वहां पर चार वर्णों की स्थिति मानी गयी।[२]

जहाँ तक आश्रम व्यवस्था का संकेत है तो उसे भी हमें वैदिक काल से ही संकेतित मानना चाहिये। यद्यपि वहां पर स्पष्ट रूप से चारों आश्रमों का संकेत नहीं है किन्तु ब्रह्मचारी, गृहस्थ और वानप्रस्थ के साथ-साथ संन्यासी के लिये मुनि शब्द का संकेत है।

---

१. ऋक् १०/४१/१/५

२. ई० द्वा० उ०; पृ० २७६-२८२

उपनिषदों में अवश्य यह संकेत है कि तब के समाज में चारों आश्रम परिकल्पित हो चुके थे क्योंकि एक स्थान पर यह कहा गया है कि ब्रह्मचर्य आश्रम को समाप्त कर गृहस्थ होवें, गृहस्थ के आश्रम को समाप्त कर वनवासी होवें तथा वनवास के आश्रम को समाप्त कर प्रव्रजित होवें।[1]

जहाँ तक समाज की पारिवारिक व्यवस्था का संकेत है तो वह भी किसी न किसी रूप में वेद तथा वेदोत्तर काल में निरूपित हो चुकी था। इसमें कुटुम्ब की परिकल्पना की जा चुकी थी। इस कुटुम्ब में माता पिता, भाई-बहिन, पुत्र-पुत्री और वधू आदि सम्मिलित थे। यह संगठित कुटुम्ब का तथा एक दूसरे के प्रति समर्पित रहता था, एवम् एक दूसरे का हित चिन्तन करते थे। पारिवारिक हित चिन्तन के साथ ही साथ एक दूसरे की मर्यादा का भी ध्यान रखा जाता था जिसमें 'मातृ देवो भव और पितृ देवो भव' जैसे भाव सम्मिलित थे।[2]

जहाँ तक कौटिल्य कालिक समाज का प्रश्न है तो उन्होंने चारों वर्णों का उल्लेख कर वर्ण व्यवस्था को स्वीकृति प्रदान की है। इसमें उन्होंने सभी वर्णों के लिये यह निर्धारित किया है कि वे अपने लिये निर्धारित किये गये कर्तव्यों का पालन करें।

---

१. ब्रह्मचर्य परिसमाप्य गृहीभूत्वावनी भवेत् ।
वनीभूत्वा प्रव्रज्जेत् । जा० वा० ४

२. अथर्व. ३/३०/१-५; ई० द्वा०उ०, पृ० ८१-८२

कौटिल्य ने वर्णों के रूप में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों का उल्लेख किया है और यह कहा है कि इनके जो कर्तव्य हैं वही इनके धर्म हैं इसलिये अपने-अपने वर्णों के लिये निर्धारित जो कोई अपने कर्तव्य करता है वह एक प्रकार से धर्म का ही पालन करता है क्योंकि जो सभी का कर्तव्य है वह सभी का धर्म भी है।[1]

जिस प्रकार से कौटिल्य ने वर्ण व्यवस्था को स्वीकार किया है उसी तरह से वे अपनी पूर्व परम्परा से चली आ रही आश्रम व्यवस्था को भी स्वीकार किया है। आश्रम व्यवस्था को स्वीकार करने के पीछे उनका यह तर्क है कि यह व्यवस्था मनुष्य के वैयक्तिक जीवन में उन्नति की हेतु है कौटिल्य यह लिखते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति का यह कर्तव्य है कि वह अपनी परम्परा के अनुकूल चले आ रहे कार्यों के द्वारा ही अपनी आजीविका प्राप्त करे। जिस तरह से वे वर्ण-व्यवस्था में कर्तव्यों का निरूपण करते हैं उसी तरह से वे सभी आश्रमवासियों के लिये निर्धारित करते हैं कि सभी अपने-अपने कर्तव्यों का पालन उचित रीति से करें। ऐसा होने पर सम्पूर्ण समाज सुखी होता है।[2]

१. कौ० अ०; पृ० ४२१-४२८
२. वही; पृ० १४

कौटिल्य ने परिवार व्यवस्था के निरूपण में राजा को पिता और शेष प्रजा को पुत्रवत माना है। इसलिये वे जब परिवार का कथन करते हैं तो पिता के लिये यह कहते हैं कि उसका दायित्व है कि वह अपने परिवार का पालन यथोचित रीति से करे। इसी तरह से वे परिवार की इकाई पुत्र को भी पर्याप्त महत्व देते हैं और यह लिखते हैं कि सुपुत्र से ही कुल की ख्याति होती है।[१]

परिवार में पति-पत्नी का जो स्वरूप है उसमें दोनों का महत्व समान रूप से है और जहाँ परिवार के लिये पति महत्वपूर्ण होता है वहीं पर पत्नी भी महत्वपूर्ण होती है।

कौटिल्य कालिक वर्णाश्रम व्यवस्था तथा परिवारः-

इन सभी संकेतों से यहाँ पर यह कहना संगत हो सकता है कि वेद तथा वेदोत्तर काल में जिस प्रकार से वर्णाश्रम व्यवस्था का संकेत किया गया था और इस संकेत से यह अभिप्राय दिया गया था कि वर्णों के आधार पर यदि समाज सुसंगठित रहेगा तो सभी अपने लिये निर्धारित कर्म करेंगे और कोई भी एक दूसरे के लिये निर्धारित कर्म में हस्तक्षेप नहीं करेगा।

१. कौ० अ० ; पृ० ६७१

इसी तरह से प्राचीन समय में जब आश्रम व्यवस्था की परिकल्पना की गई थी कि प्रत्येक व्यक्ति का जीवन व्यवस्थित ढ़ग से व्यतीत हो और वह अपने जीवन के सभी भागों में अपने सामर्थ्य के अनुकूल कार्य करे। आश्रम व्यवस्था में यही निर्देश करने का अभिप्राय प्राचीन व्यवस्थापकों का था।

कौटिल्य ने जब वर्ण और आश्रम व्यवस्था को स्वीकार किया तो उसे प्राचीन परम्परा से ही ग्रहण किया। कौटिल्य भी यही चाहते थे कि एक ओर पूरा समाज सुसंगठित रहे और दूसरी ओर व्यक्ति का जीवन सुचारु रूप से चले। इसके लिये उन्होंने देखा कि वर्ण व्यवस्था में सभी के अपने-अपने कर्तव्य हैं और जब सभी लोग अपने लिये निर्धारित कर्तव्यों का पालन करेंगे तो निश्चित रूप से समाज की व्यवस्था विधि-पूर्वक सम्पादित होती रहेगी। इसी तरह से जब आश्रम व्यवस्था में रहकर प्रत्येक व्यक्ति अपने-अपने समय में निर्धारित आश्रमों के कर्तव्यों का पालन करेगा तो व्यक्ति का जीवन सुचारू रूप से चल सकेगा। इसी विचार से कौटिल्य ने वर्णाश्रम व्यवस्था को स्वीकार किया और उसका निरूपण अपने ग्रन्थ में किया।

जहां तक पारिवारिक व्यवस्था का प्रश्न है तो यह अनुभव से निरूपित है कि परिवार समाज की एक इकाई है। प्रारम्भ से ही परिवार की व्यवस्था किसी न किसी रूप में स्वीकार की गई जिसमें माता-पिता, पति-पत्नी, पुत्र-पुत्री आदि सम्मिलित किये गये हैं। परिवार की इस व्यवस्था में जहाँ पिता को महत्वपूर्ण माना गया है और पूरे परिवार के पालन का दायित्व उसे दिया गया है वहीं पर परिवार की आन्तरिक व्यवस्था में माता को महत्व दिया गया है। इस महत्व में पुत्र को भी उचित स्थान प्राप्त है। वह भी परिवार की इकाई का समर्थ सदस्य है।

आचार्य कौटिल्य भी परिवार की ऐसी व्यवस्था ही स्वीकार करते हैं और लिखते हैं कि पिता का यह कर्तव्य है कि वह अपनी पूरी सार्मथ्य से परिवार का पालन-पोषण करे और तब तक संन्यास ग्रहण न करे जब तक परिवार सक्षम न हो जाये। इसी तरह कौटिल्य परिवार के अन्य सदस्यों के लिये उनके कर्तव्यों का कथन करते हैं और सभी के लिये यह निर्देश करते हैं कि सभी अपने कर्तव्यों का पालन करके परिवार रूपी समाज की इकाई को सुदृढ़ बनावें।

राजा का प्रारम्भिक तथा कौटिल्य कालिक सामर्थ्य :-

'राजृ' धातु से निष्पन्न हुआ राजा शब्द शोभा के अर्थ को व्यक्त करता है और इससे यह ध्वनित होता है कि जो कोई व्यक्ति अपने जीवन में अपने कार्य-व्यवहार से शोभित होता है वह राजा कहलाता है।[1] इसी तरह अन्य स्थल पर यह लिखा गया है कि जो रञ्जन करता है वह राजा कहलाता है। यह अर्थ रञ्जयतीति राजा इस प्रयोग से लिया गया है जिसका अर्थ होता है रंजन करने वाला।[2] अभिप्राय यह है कि जो प्रजा का रञ्जन करता है उसे ही राजा कहा जाता है।

अन्य संदर्भों में भी राजा शब्द को लेकर अनेक प्रकार के भाव व्यक्त किये गये हैं और उसमें कहा गया है कि राजा पिता की तरह होता है। अर्थात् जिस प्रकार पिता अपने पुत्रों का अनुरञ्जन करता है उसी प्रकार से राजा प्रजा का अनुरञ्जन करता है।[3] एक अन्य सन्दर्भ इस प्रकार का है जिसमें यह मत व्यक्त किया गया है कि राजा का प्रजा के प्रति जो अनुराग है अपने उसी अनुराग से वह शोभित होता है और उसी शोभा से वह राजा कहा जाता है।[4] एक प्राचीन सन्दर्भ में इस प्रकार की अवधारणा व्यक्त की गई है जिसमें कहा गया है कि राजा के लिये प्रजा पुत्रवत होती है और पृथु जैसे राजाओं ने राजा का पालन पुत्रवत किया है[5]।

---

१. सि०कौ० उणादि प्रकरण १/१५४
२. सं०श०कौ०; पृ० ६१३
३. वाचस्पत्यं , भाग ६, पृ० ४८०२
४. वि० पु० (१) अ० १३
५. प० पु० भूखण्ड, अ० २६

इस रूप में राजा के लिये प्रयुक्त किये गये यदि अन्य संदर्भों को देखा जाये तो उनमें अधिकतर यह भाव निकलता है कि राजा प्रजा के लिये ईश्वर की तरह है, वह प्रजा का पालक है, पृथ्वी का अधीश्वर है, मनुष्यों का स्वामी है मनुष्यों के लिये इन्द्र जैसा है। इसलिये राजा शब्द के पर्याय में नृपतिः, भूपतिः, भूपाल, महीपतिः, नरेश्वर, नरेन्द्र अवनीश और क्षितीश शब्द लिखे गये हैं।[१]

यदि हम इस सन्दर्भ में प्राचीन उल्लेखों का संकेत करना चाहें तो हमें यह दिखायी देता है कि वहाँ पर इसी भाव वाले राजा होते थे। ऋग्वेद का एक उल्लेख है कि राजा त्रसदस्यु ने अपने सम्बन्ध में कहा कि मैं प्रजा का राजा हूं, वरुण हूं, देवताओं ने मुझे असुरों को नाश करने वाली शक्तियां प्रदान की हैं।[२] एक दूसरा सन्दर्भ यह संकेत करता है जिसमें कहा गया है कि राजा मनुष्यों के द्वारा विधृत होते हैं।[३] अर्थात् राजा ही वह सामर्थ्य है जो मनुष्यों को भली-भांति धारण करता है। इसी दृष्टि को ध्यान में रखते हुये यह संकेत भी किया गया है कि राजा की शोभा तभी तक है जब तक वह प्रजा की कल्याण भावना से उसके अभ्युदय के लिये कार्य करता है।[४]

---

१. इ० सं० डि०, पृ० ४२७
२. ऋक् ४/४२
३. तै० सं० २/६/२/२
४. श० ब्रा० ५/४/४/१४

अन्य वैदिक सन्दर्भों में भी इस प्रकार के संकेतों का स्वरूप हम देख सकते हैं जिनसे यह संकेत मिलता है कि राजा की विशिष्टता पुराने समय से ही स्वीकृत थी। उस समय जब राजा का राज्याभिषेक होता था तो यह कहा जाता था कि राष्ट्र एक पुनीत थाती है यह तुम्हें सौंपी जा रही है। इसके संचालक इसके नियामक और इसके उत्तरदायी तुम हो। इसका संचालन ठीक-ठीक होता रहे यह तुम्हारा प्रथम कर्तव्य है। यह राज्य तुम्हें इसलिये दिया गया है कि तुम कृषि के क्षेत्र में इसका कल्याण करो, इसकी प्रजा को सम्पन्न बनाओ और उसे पोषित करो।[१]

राजा की शोभा और राजा का सामर्थ्य इसी में है कि वह राजा का कल्याण करे और अपने शासन के द्वारा सभी को सौभाग्यशाली बनावें।[२] वेदोत्तर काल में यदि हम महर्षि व्यास, महर्षि मनु आदि को देखें तो इन्होंने भी यही संकेत किया है कि राजा जो भी कर्म करता है वे प्रजा के लिये होते हैं और प्रजा की रक्षा करना तथा अपने द्वारा किये गये कर्मों से शोभित होना राजा का मुख्य लक्ष्य है।[३] राजा को हर स्थिति में यह ध्यान रखना चाहिये कि वह प्रजा के हित सम्पादन के लिये कार्य करे और ऐसा कोई कार्य न करे जिससे प्रजा को कष्ट हो।

---

१. शु० य० वे० ६/२२
२. ऋक् ५/८५/३; २/२५/२
३. म०भा०शां० प० १५/१३

महर्षि मनु ने मनु स्मृति में यह विचार किया है कि जिस प्रकार पूर्ण चन्द्र को उदित हुआ देख व्यक्ति प्रसन्न होते हैं उसी तरह यदि राजा को देखकर प्रजा प्रसन्न होती है तो समझना चाहिये कि राजा शोभित हो रहा है। वे यह संकेत करते हैं कि राजा को प्रजा का पालन इस प्रकार से करना चाहिये जैसे धरती सभी का पालन मुक्त भाव से करती है।[१]

आचार्य कौटिल्य ने भी राजा के सन्दर्भ में ऐसे ही विचार किये हैं। उन्होंने यह लिखा है कि जो राजा प्राणिमात्र के हित कामना में लगा रहता है और प्रजा की शुभ चिन्ता सदा करता रहता है वह बहुत काल तक निर्वाध रूप से पृथ्वी पर शासन करता है।[२]

अनेक विद्वानों और विचारकों ने राजा के सम्बन्ध में अपने-अपने मत दिये हैं। इन सभी के निष्कर्ष रूप में यह कहा गया है कि प्रारम्भ में सामाजिक परिकल्पना के साथ ही किसी ऐसे एक व्यक्ति की आवश्यकता का अनुभव हुआ होगा जो समाज में अनुशासन रख सके और प्रजा का मार्ग-दर्शन कर सके। इसी के फलस्वरूप तब राजा की परिकल्पना हुई होगी और तभी से राजा सर्व समर्थ के रूप में प्रतिष्ठत रहा होगा।

---

१. म० स्मृ० ७/२८

२. कौ० अ० ; पृ० २०

राजा का कौटिल्य कालिक सामर्थ्य :-

सृष्टि के आदि से समाजिक परिकल्पना का जो इतिहास है उससे यह ज्ञात होता है कि प्रारम्भ से ही एक ऐसे व्यक्ति की कल्पना की जाती रही होगी जिसमें ऐसी शक्तियां निहित हों जिन शक्तियों से समाज व्यवस्थित हो सके। राजा शब्द का शब्द से ही जो अर्थ का सामर्थ्य है उसके अनुसार भी राजा शोभा करने के अर्थ में प्रस्तुत होता है जिसका संकेत यह होता है कि जो अपने कर्तव्यों से पूरे समाज में शोभित हो तथा प्रतिष्ठा प्राप्त करे वह राजा होता है।

राजा के लिये दण्ड की व्यवस्था का विधान प्रारम्भ से ही रहा और इस रूप में राजा को शक्ति सम्पन्न माना गया। वह अपनी शक्ति का प्रयोग राज्य की व्यवस्था करने के साथ-साथ इस प्रकार से अपने सामर्थ्य का प्रदर्शन करेगा जिससे निराश्रित व्यक्ति को आश्रय मिले और यदि कोई समर्थ कुमार्ग पर चलता है तो उसका दमन करें। वह निर्बलों को सुरक्षित रखे, सबलों को व्यवस्थित करे और इस तरह समाज की व्यवस्था करे जिससे जो जिस स्तर का व्यक्ति है वह अपने स्तर में रहता हुआ समाज की व्यवस्था में सहयोगी होवे। राजा यद्यपि प्राचीन समय में वंश परम्परा से राज्याधिकारी होता था तथापि वह प्रजा के प्रति उत्तरदायी होता था और प्रजा भी राजा के प्रति देवभाव रखती थी। तब के समय में राजा और प्रजा के बीच में पिता और पुत्र के सम्बन्ध का आख्यान किया गया है जिसमें राजा पितृवत् होता था और प्रजा उसके लिए पुत्रवत होती थी। राजा प्रजा का पालन उसी तरह करता था जैसे कोई अपने पुत्र का पालन करता है।

वैदिक साहित्य में राजा के विषय में यह निरूपित किया गया है कि वह राजधर्म का परिपालक हो क्योंकि धर्म से केवल उसका सम्बन्ध नहीं होता अपितु समाज का सम्बन्ध भी राजा के धर्म से ही होता है। इसलिये धर्म का परिपालन न करने से केवल राजा पर आपत्ति नहीं आती अपितु उसकी आपत्ति से प्रजा भी प्रभावित होती है।

राजा के लिये केवल व्यैक्तिक जीवन की शुचिता का महत्त्व बताया गया है इसलिये उसके लिये कहा गया है कि वह ब्रह्मचर्य से युक्त हो साधु स्वभाव वाला हो और तपस्या करता हुआ राष्ट्र की रक्षा में समर्थ हो।[1] बाद की परम्परा में भी राजा के लिये ऐसा ही विचार व्यक्त किया गया है जिसमें राष्ट्र भृत अर्थात् राष्ट्र की रक्षा करने में समर्थ राजा को बताया गया है। वह इस प्रकार का प्रभावी और समर्थ होवे जैसे सूर्य होता है। सूर्य के दो प्रकार के कार्य हैं उसका एक कार्य है प्रकाशित करना अर्थात् तपना और दूसरा कार्य है ऊर्जा देना। राजा को भी चाहिये कि वह सूर्य की भांति तपकर प्रजा को प्रकाशित करे, अपनी दीप्ति से प्रजा को दीप्तिवान बनावें और तब अपनी ऊर्जा से प्रजा को ऊर्जस्वित करे।[2]

---

१. अथर्व० ५/१/७
२. ऐ० ब्रा० ७/३४

स्मृतिकालिक परम्परा में राजा का प्रमुख कर्म यही कहा गया है कि वह रक्षा करने में समर्थ हो। क्षत्रिय का धर्म रक्षा करना है इसलिये वह विधि पूर्वक प्रजा की रक्षा करे। धर्मसूत्रकार और स्मृंतिकार उसके इसी स्वरूप का कथन करते हैं। वे कहते हैं कि जो राजा शास्त्र विधान से बंधकर अपने कर्तव्यों का पालन करता है वह धर्म के फल का भोक्ता होता है। इसी तरह याज्ञवल्क्य स्मृति में भी राजा के कर्तव्यों का और उसके आचरण का निरूपण है जिसमें राजा को धर्मवान होकर कर्म करने के लिए प्रेरित किया गया है।[१]

आचार्य कौटिल्य ने राजा को दृष्टिपथ में रखकर ही कौटिल्य अर्थशास्त्र की रचना की है इसलिए वे जब राजा के विषय में विचार करते हैं तो उसे दो रूपों में देखते हैं। एक रूप में वे यह संकेत करते हैं कि राजा को वैयक्तिक रूप से अच्छे चरित्र वाला होना चाहिए। अर्थात् वह अपनी दिनचर्या को इस प्रकार से विभाजित करे जिससे उसका पूरा दिन और रात्रि विधिपूर्वक व्यवस्थित कार्यों में लगा रहे। राजा अपनी शिक्षा के लिए अपने आचरण और व्यवहार के लिए समय तो निकाले ही प्रजा की रक्षा के लिए भी वह समय का विधान करे। अपनी सम्पूर्ण दिनचर्या में उसने जो कुछ किया है दिन के अन्त में वह उनका पुनरीक्षण करे।

---

१. म. स्मृ. ७।१४४, या. स्मृ. आचाराध्याय, पृ. ३०८-३११

राजा प्रथम स्थान में स्थित होने के कारण राज्य में श्रेष्ठ तो है ही साथ ही वह सभी प्रकार से समर्थ भी है। पुराने समय से ही राजा को श्रेष्ठ प्रकृति के रूप में माना जाता था। राजा के लिए यह कहा जाता था कि वह ऐसा वीर हो जिसका अनुकरण दूसरे करें। तब राजा ऐसा होता भी था और वह कमर्ण्य होकर देवबल से सम्पन्न होता था।[१] जब राजा का अभिषेक होता था तो उसमें सूर्य, अग्नि, सोम, इन्द्र और चन्द्र की तेजस्विता का आधान होता था। इस तेज से यह कल्पना की जाती थी कि वह साम्राज्य का शासक बने। अभिषेक के अवसर पर वह अपने ब्रह्मचर्य से राज्य की रक्षा करने में सक्षम होता था।[२]

महर्षि मनु ने राजा के सामर्थ्य में यह प्रतिपादन किया है कि राजा इन्द्र, वायु, सूर्य, यम, अग्नि, वरुण, चन्द्र और कुबेर का अंश लेकर उत्पन्न होता है। इसलिए वह समर्थ है। राजा दण्ड के माध्यम से प्रजा पर शासन करता है और इसलिए वह शासक होता है। राजा के द्वारा किये जाने वाले शासन के सम्बनध में मनु और शुक्राचार्य ने विस्तार से प्रकाश डाला है और यह लिखा है कि राजा शासन करता हुआ अपने विवेक से प्रजा पालन में सक्षम होता है।[३]

---

१. ऋक् ४।४८, भा. पृ. ४।१४
२. ऋक् ११।५।१७
२. म. स्मृ. ४।३६०, शु. नी. २।६६

आचार्य कौटिल्य ने राजा की शक्तियों का निर्धारण और उसके सामर्थ्य का संकेत विस्तार से किया है। राजा को यह अधिकार होता था कि वह अमात्यों की नियुक्ति करे तथा मन्त्री और पुरोहित को भी समय-समय पर नियुक्त करता रहे। कौटिल्य ने राजा के लिए उसके सामर्थ्य की सीमा इस रूप में निर्धारित कर दी है कि वह स्वछन्द रूप से कोई ऐसा आचरण न करने लगे जो प्रजा के हित के विरुद्ध हो। राजा ने कौटिल्य के लिए जो सामर्थ्य दिया है उसमें यह निर्देश किया गया है कि वह यज्ञ करावें, प्रजा का पालन करे और न्याय व्यवस्था में अपने दायित्व का निर्वाह करे।[1]

कौटिल्य की दृष्टि में राजा में शक्तियाँ तो निहित हैं किन्तु वह प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप से समिति और अमात्यों से ऐसा बंधा रहता था जिसमें वह अकेले कोई कार्य नहीं कर सकता था।[2] कौटिल्य ने यह लिखा है कि राजा जो भी कार्य करना चाहता है अनिवार्य रूप से उन मन्त्रियों के साथ मन्त्रणा करे। यदि आकस्मिक स्थिति हो तो वह इसमें एक दो मन्त्रियों को लेकर अपना कार्य चला सकता है।[3]

१. कौ. अ., पृ. ७७
२. वही, पृ. २६
३. वही, पृ. ५६

नीति एवं दण्ड-

आचार्य कौटिल्य ने न्याय के सन्दर्भ में सूक्ष्मता से विचार किया है और समाज को व्यवस्थित स्वरूप देने के लिए दण्ड की व्यवस्था की है। यद्यपि उन्होंने कौटिल्य अर्थशास्त्र में विद्या सम्बन्धी विचार करते हुये दण्ड को नीति माना है और यह व्यवस्था की है कि बिना दण्ड दिये प्रजा का कार्य नहीं चलेगा। किन्तु वे ऐसा करने से पूर्व यह निर्देश अवश्य करते हैं कि दण्ड देने से पहले इस सम्बन्ध में पर्याप्त विचार कर लेना चाहिए। इसलिए वे कहते भी हैं कि पर्याप्त रूप से विचार करते हुए दिया गया दण्ड अप्राप्त वस्तुओं की प्राप्ति कराता है, प्राप्त वस्तुओं की रक्षा करता है, रक्षित वस्तुओं में वृध्दि करता है और वर्द्धित वस्तुओं को समुचित कार्यों में लगाने का प्रयत्न करता है। संसार की लोक यात्रा इसी पर निर्भर है इसलिए लोक को समुचित मार्ग पर चलाने के लिए राजा को सदा ही उद्यत दण्ड होना चाहिए।[१]

दण्ड को नीति मानने वाले आचार्य कौटिल्य दण्ड के लिए केवल दण्ड व्यवस्था का करना उचित नहीं मानते। वे यह लिखते हैं कि बिना विचार किये हुये यदि प्रजा को कठोर दण्ड दिया जायेगा तो वह उद्विग्न होगी और किसी को बिना विचार कर मृत्यु दण्ड दिया जायेगा तो राज्य का परिभव होगा। इसलिए समुचित दण्डदिये जाने से ही प्रजा धर्म, अर्थ और काम में ठीक से नियोजित होती है।[२]

---

१. तस्य नीतिः दण्ड नीतिः। कौ. अ., पृ.१५

२. यथार्हदण्डः पूज्यः। सुविज्ञातप्रणीतो हि दण्डः प्रजाः धर्मार्थकामैः योजयति।। वही, पृ. १६

आचार्य कौटिल्य ने जिस न्याय व्यवस्था का प्रतिपादन किया है उसमें प्रजा को तो लक्ष्य बनाया ही है राज कर्मचारियों, व्यवसायियों और दुर्जनों के लिए भी समुचित न्याय व्यवस्था है। उनका यह मत है कि जहाँ प्रजा को अनीति से सुरक्षा मिले वहीं कर्मचारियों को भी पर्याप्त रूप से सुरक्षा मिलनी चाहिए।

कौटिल्य जब नीतिपूर्वक दण्ड का विधान करते हैं तो वे लिखते हैं कि दण्ड की व्यवस्था अपराध के आधार पर की जानी चाहिए। अर्थात् जो जिस स्तर का अपराधी है उसे उस प्रकार का दण्ड देना चाहिए। वे यह भी निर्देश करते हैं कि अपराधी के अपराध का विचार करते समय यह देखना चाहिए कि वह चोर, डाकू और हत्यारा तो नहीं है। कहीं उसके पूर्वजों की सम्पत्ति क्षीण तो नहीं हो रही और उसे अपने खर्च के लिए पर्याप्त रूप से वेतन आदि मिल रहा है अथवा नहीं। यदि कोई व्यक्ति अपना नाम, जाति और गोत्र आदि ठीक न बताता हो, अपने व्यवसाय की जानकारी भी ठीक से न देता हो और किसी प्रकार से शंकित हो तो उसके विषय में पर्याप्त जानकारी करनी चाहिए और उसका पता लगाना चाहिए।[१]

---

१. कौ. अ., पृ. ४४७-४४८

कौटिल्य ने जिस प्रकार से नीति और दण्ड का विधान किया है उसमें कुछ दण्ड तो ऐसे हैं जो अविकसित समाज की व्यवस्था का स्मरण कराते हैं। जैसे किसी अपराधी को दण्डित करने के लिए डण्डे मारना, कोड़े मारना और हाथ-पैर काटना। इस प्रकार के दण्डों को अठारह प्रकार की श्रेणियों में बाँटा गया है और बालक, वृद्ध, रोगी तथा ब्राह्मण को इससे मुक्त रखा गया है। इसके साथ ही साथ जो स्त्री गर्भवती होती थी उसे भी अदण्ड्य माना गया है। ब्राह्मण के लिए मृत्यु दण्ड वर्जित था किन्तु उसके शरीर में कोई ऐसा चिन्ह बना देने का विधान था जिससे वह अपमानित होता रहे।[1] कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र ग्रन्थ में अर्थदण्ड की व्यवस्था को नैतिक मानदण्डों के आधार पर लागू किया है। उन्होंने अर्थदण्ड को तीन प्रकार का कहा है। एक प्रकार का अर्थदण्ड साहस दण्ड है, दूसरे प्रकार का अर्थदण्ड भी साहस दण्ड ही कहा गया है जबकि तीसरे प्रकार का अर्थदण्ड उत्तम साहस दण्ड होता था।[2]

दण्ड व्यवस्था के साथ-साथ कौटिल्य ने अपराधी के सुधार की भी चर्चा की है और यह लिखा है कि कोई अपराधी यदि अपना सुधार चाहता है तो उसे इसका अवसर मिलना चाहिए।[3] वे लिखते हैं कि जो भी राजा इस प्रकार से न्याय और दण्ड की व्यवस्था सुचारु रूप से चलाता है वह समाज के लिए ऐसा मार्गदर्शन करता है जिसमें पूरा समाज धर्म, अर्थ और काम की प्राप्तियों की ओर बढ़े तथा समाज में सभी प्रकार की व्यवस्था रहे।[4]

---

१. कौ. यु. द., पृ. ८२
२. कौ. अ., पृ. ४०१-४०३
३. कौ. यु. द., पृ. ८२-८३
४. कौ. अ., पृ. १७

शत्रु और सन्धि -

आचार्य कौटिल्य ने राजा के लिए जिन गुणों का वर्णन किया है उनकी संख्या छह बतायी है। उन छह गुणों में सन्धि भी एक गुण है। सन्धि का अर्थ है व्यवस्था करना अथवा एकता की स्थापना करना। कौटिल्य ने शत्रु के लिए विचार करते हुये यह लिखा है कि जो राजा अपने पड़ोसी से हीन होवें उसे सन्धि कर लेनी चाहिए। इसी प्रकार से यदि कोई राजा दुर्बल पर आक्रमण करता है तो दुर्बल राजा को तुरन्त सबल राजा की अधीनता स्वीकार कर लेना चाहिए और अपना कोश तथा राज्य उसे सौंप देना चाहिए। सन्धियों के विषय में कौटिल्य ने कहा है कि ये तीन प्रकार की होती हैं। जब कोई राजा अपनी सेना की उत्तम टोली लेकर किसी सबल राजा के समक्ष उपस्थित होवे तो ऐसी सन्धि को आत्मामिश सन्धि कहा जाता है। इसी प्रकार से जब राजा स्वयं न जाकर सन्धि करने के लिए अपने अमात्य अथवा सेनापति को भेजता है तब आत्मरक्षण नामक सन्धि होती है। तीसरे प्रकार की सन्धि में यह कहा गया है कि जब राजा आक्रामक राजा की इच्छानुसार कहीं भी सेना लेकर जाये तो इसे अदृष्ट पुरुष सन्धि कहते हैं। इन सन्धियों के विषय में आचार्य कौटिल्य ने और अधिक विस्तार से चर्चा की है और यह लिखा है कि जिसमें सेना के साथ सन्धि होती है वह दण्ड प्रणत सन्धि कहलाती है। जो सन्धि कोश के लिये की जाती है उसे परिक्रय आदि के रूप में अनेक नाम दिये गये हैं और इस रूप से कौटिल्य के मतानुसार अनेक प्रकार की सन्धियों का विवरण स्थान-स्थान पर दिया गया है।[1]

---

१. कौ. अ., पृ. ५६३

कौटिल्य के अतिरिक्त राजनीति पर विचार व्यक्त करने वाले आचार्यों में कामन्दक का नाम प्रमुखतः से लिया जाता है। कामन्दक के मतानुसार उपहार देना सन्धि है। इसमें वे यह अवश्य कहते हैं कि मित्र को उपहार देना सन्धि नहीं है। सन्धियों के अनेक स्वरूपों में उनके अनुसार मैत्र, परस्परोपकार, सम्बन्धज और उपहार नाम की सन्धियाँ होती हैं।[१]

सन्धियों के विषय में यह लिखा गया है कि जो राजा सबल होता है और उसकी सन्धि यदि निर्बल राजा के साथ होती है तो यह स्वाभाविक है कि वह विजयी राजा को सेना, कोश और भूमि आदि देकर सन्तुष्ट करें। इसीलिये राजाओं के लिये सन्धियों का निर्धारण करते हुये यह लिखा है कि वे दण्डोपनत, कोशोपनत, देशोपनत प्रकार की सन्धियाँ करके सदा अपने कार्य की सिद्धि और देश के लाभ का विचार करते रहें।[२] हमारी प्राचीन परम्परा में दो ऐसे महाकाव्य हैं जो अपने-अपने समय की राजनैतिक स्थिति का सम्पूर्ण विवरण देते हैं। बाल्मीकि रामायण और महाभारत महाकाव्य इन दोनों ग्रन्थों में ऐसे संकेत हैं जिनसे अनेक प्रकार की सन्धियों का विवरण प्राप्त होता है। बाल्मीकि रामायण में श्रीराम और विभीषण की मित्रता को एक प्रकार की सन्धि ही कहा जा सकता है। यद्यपि कुछ मत इस प्रकार के हैं जिनमें यह माना गया है कि विभीषण ने श्रीराम के समक्ष स्वयं को समर्पित किया था और यह शरणागति का एक स्वरूप था।[३]

---

१. का०नी ६/२१-२२; ६/२०
२. कौ० अ० ; पृ० ५६६
३. बा० रा० रा० वि०; पृ० २०२

कौटिल्य ने भी मित्र सन्धि पर विचार किया है और मित्र सन्धियों का अनेक रूपों में उल्लेख किया है। वे यह लिखते हैं कि जब दो मित्र राजा आपस में मित्रता करें और एक दूसरे को लाभ पहुँचाने का प्रयत्न करें तब इसे सम सन्धि कहते हैं। इसमें एक को मित्र लाभ होता है तो दूसरे को हिरण्य और भूमि लाभ होता है। इस सन्धि में यदि पहले से निश्चित लाभ के अतिरिक्त लाभ मिले तो उसे अति सन्धि कहते हैं।[१]

इसी प्रकार से एक सन्धि का वर्णन इस रूप में किया गया है कि जहाँ पर दो राजा मिलकर यह विचार करते हैं कि हम दोनों मिलकर भूमि प्राप्त करें तो उसे भूमि सन्धि कहते हैं। इसमें से जो गुणी सेवकों और धन से युक्त कोश प्राप्त करता है वह विशेष लाभ में रहता है। इसी तरह से जब दो राजा यह विचार करते हैं कि हम दोनों मिलकर खाली भूमि में उपनिवेश बसायें तो उसे अन्वासित सन्धि कहते हैं। इस स्थिति में जो सभी साधन लेकर गुण सम्पन्न भूमि में उपनिवेश वसालता है वह सर्वाधिक लाभ में रहता है।[२] इसी प्रकार से जहाँ पर दो राजा परस्पर सहमत होकर दुर्ग बनाने का विचार करते हैं और वे इस विचार को कार्य रूप में परिणत करते हैं तो इसे कर्म सन्धि कहा जाता है।[३]

---

१. कौ. अ., पृ. ६०३
२. वही; पृ० ६१७
३. वही; पृ० ६२४

राजा और प्रजा का सामञ्जस्य :-

प्राचीन समय में जब राज्य और राजा की कल्पना की गई थी तभी से राजा के लिये और साथ ही प्रजा के लिये भी कुछ विशेष कर्तव्य कहे गये थे। इन दोनों से अपेक्षा की गई थी कि इनके द्वारा जो भी कार्य किये जायें उनके मूल रूप में राज्य के हित सम्पादन का भाव हो। इस दृष्टि से राजा के लिये भी धर्म का आचरण करने का संकेत था। प्राचीन ग्रन्थों में अनेक आचार्यों ने राजा के लिये जिन कर्तव्यों का कथन किया है उनका प्रतिपादन राज धर्म के रूप में है। महर्षि व्यास यह लिखते हैं कि जब राजा अपने धर्म का पालन करता है तो प्रजा में न कोई रोग होता है, न कोई दोष होता है और न ही उसमें किसी प्रकार का भय होता है। वे स्पष्ट करते हैं कि राजा जो भी कार्य करता है वह प्रजा को ध्यान में रखकर करता है और उसके जो कार्य प्रजा के हित के लिये होते हैं वही धर्म होते हैं।[१] राजा के लिये इस रूप में जो कार्य कहे गये हैं अथवा उसके जो कर्तव्य कहे गये हैं उनसे न केवल राजा का हित सम्पादित होता था अपितु पूरी तरह से प्रजा का हित भी सम्पादित होता था इसलिये इन्हें राजधर्म कहा गया है और सर्वत्र राजधर्म की श्रेष्ठता स्वीकार की गई है। इसका अभिप्राय यही है कि राजा केवल ऐसे कार्य करे जिनसे प्रजा का हित सम्पादित होता हो और जो प्रजा को ध्यान में रखकर किये गये हों।

---

१. सर्वाविद्या राजधर्मेषुयुक्ताः..............।
सर्वेधर्माः राजधर्माः प्रधानाः।। म०भा० शां० प० ६३/२५ / /६

राजधर्म में धर्म शब्द का प्रयोग कर्मवाचक है। इस प्रकार का मन्तव्य अनेक आचार्यों ने व्यक्त किया है। मनुस्मृति के व्याख्याकार मेघातिथि स्पष्ट रूप से यह लिखते हैं कि धर्म शब्द कर्तव्य वाचक है और राजा अपने लिये जो कर्तव्य करता है वे सभी धर्म हैं।[१] राजा के लिये जो धर्म विहित है उनमें से कुछ तो ऐसे हैं जो प्रत्यक्ष रूप से दिखाई देते हैं और प्रजा यह समझती है कि राजा अपने कर्तव्यों में दृढ़ता से स्थिर है किन्तु राजा के कुछ ऐसे कर्तव्य होते हैं जो प्रत्यक्ष रूप से दिखाई नहीं देते। राजनीति के लिये धर्मशास्त्र के ग्रन्थ धार्मिक आधार पर नहीं अपितु प्रजा के द्वारा सम्पादित होने वाले कर्तव्यों के आधार पर बनें हैं।

यद्यपि राजा राजतन्त्र में स्वतन्त्र होता था और पूरी की पूरी शक्तियां उसी में निहित होती थीं किन्तु धर्म रूपी कर्तव्य का बन्धन उस पर इतना अधिक होता था कि वही प्रजा के लिये और राजा के लिये भी दण्ड रूप में हो जाता था। महर्षि मनु और याज्ञवल्क्य ने यह लिखा है कि धर्म रूपी दण्ड यदि प्रजा के ऊपर शासन करता है तो वह इतना समर्थ होता है कि राजा यदि कभी अन्यथा आचरण करता है तो वही धर्म दण्ड राजा के लिये भी प्रयोग में आ सकता है इसलिये राजा को कभी अन्यथा आचरण नही करना चाहिये। क्यों कि राजा के द्वारा प्राप्त राज्य एकपवित्र धरोहर है और इसका ठीक-ठीक संचालन करना राजा केलिये राजधर्म है।[२]

---

१. मनु.स्मृ० (७/११) पर मेघातिथि
२. वही; ७/१६,, या० स्मृ० १/३४५-७३५६

प्राचीन परम्परा में अनेक ऐसे उदाहरण भी हैं जिनमें राजा ने प्रजा का ध्यान रखते हुये और अपने धर्म का पालन करते हुये अपने परिवार का भी बलिदान किया। श्री राम ने इसी संदर्भ में सीता का परित्याग किया और राजधर्म के पालन करने का अनुकरणीय उदाहरण प्रस्तुत किया। उपनिषदों में इस प्रकार के संकेत स्पष्ट रूप से दिये गये हैं जिनमें यह कहा गया है कि धर्म से बढ़कर और कुछ नहीं है।[१] इसलिये निरन्तर प्रजा के हित का चिन्तन करना प्रजा धर्म है और ऐसा राजा अपने आप को धर्म से पृथक् नहीं कर सकता।

धर्म के रूप में अथवा राज धर्म के रूप में जिसके पालन का विधान किया गया है उसे दो रूपों में बताया गया है। इसमें से एक धर्म वह है जिसमें कोई व्यक्ति वैयक्तिक रूप से देवों की उपासना करता है और अपने हित के लिये उसका प्रयोग करता है। राजा के लिये दूसरे प्रकार का धर्म वह है जिसका कथन उसके लिए कर्तव्य रूप में किया गया है और जिसमें यह बताया गया है कि वह अपना कर्तव्य करता हुआ राज्य की सम्पत्ति को रक्षित करें और बाहर से होने वाले आक्रमणों से वह प्रजा की सम्पत्ति की रक्षा करें।[२]

---

१. वृ. उ. १।४।११-१४
२. गौ. ध. सू. ११।१५-१७, याज्ञ. १।३०८

आचार्य कौटिल्य ने राजा के लिए जिन धर्म रूपी कर्तव्यों का कथन किया है उनके अनुसार उसे व्यक्तिगत और सामाजिक रूप से सभी प्रकार के धर्मों का पालन करना होता था। कौटिल्य ने राजा के लिए कठोरतम नियमों का विधान किया है। वे यह लिखते हैं कि राजा को सतकुल में उत्पन्न हुआ होना चाहिए। उसे द्वेष बुद्धि वाला नहीं होना चाहिए, वह निरन्तर धार्मिक आचरण करने वाला हो, उसका स्वभाव कृतज्ञ हो और वह सदा सद्विचार में प्रवृत्त रहने वाला होवे। उसे ऐसी क्षमता प्राप्त हो जिससे वह शास्त्रों का उपदेश सुन सके और शास्त्रों के माध्यम से जो ज्ञान प्राप्त होता है उसे धारण कर सके।[१] राजा के लिए यह भी आवश्यक है कि वह अपनी इन्द्रियों पर विजय प्राप्त कर सके और उसके द्वारा जो भी कार्य किया जा सके वह धर्म के अनुकूल होवे। कौटिल्य का यह मानना है कि धर्म के अनुकूल किया गया कार्य ही कल्याणकारी होता है और इसी से व्यक्ति का, समाज का और राष्ट्र का हित सम्पादित होता है। आचार्य ने राजा के लिए धर्म सम्मत अर्थ का निर्देशन किया है। वह यह मानते हैं कि जो अर्थ धर्मसम्मत होता है वही कल्याणकारी होता है और जो अर्थ धर्महीन नीति से संकलित किया जाता है वह कल्याण का बाधक होता है।

१. मनु.स्मृ० (७/११) पर मेघातिथि

प्रजा के लिए हित सम्पादित करने वाले और सभी के लिए कल्याण करने वाले कुछ कर्म राजा के लिए ऐसे कहे गये हैं जो राज्य की व्यवस्था में उपयोगी होते हैं। जैसे राजा के द्वारा यज्ञ सम्पादित कराना, न्याय की व्यवस्था करना, दान देना, शत्रु और मित्र से उचित व्यवहार करके योग्य विद्वानों को उचित स्थानों पर नियोजित करना।

कौटिल्य के समय में वर्णाश्रम व्यवस्था का कथन किया गया है इसलिए जहाँ एक ओर प्रजा वर्ण और आश्रम धर्म का पालन करती थी वहीं पर राजा के लिए भी यह निर्देश था कि वह वर्ण एवं आश्रम व्यवस्था का पालन करे। राजा सतत् यह प्रयत्न करता रहे कि वह न तो कभी अपने कर्तव्य पथ से विमुख होवे और न ही कभी प्रजा को कर्तव्य पथ से विमुख होने देवे। उनकी यह मान्यता है कि जो राजा अपनी प्रजा को धर्म से भ्रष्ट होने नहीं देता वह इस लोक में सफल होता है ओर परलोक में भी सुख पाने का अधिकारी होता है।[1] इस रूप में कौटिल्य का दर्शन यह संकेत करता है कि राजा को अपना जीवन शुचिता पूर्वक व्यतीत करना चाहिए और ऐसा कोई कार्य नहीं करना चाहिए जिससे प्रजा का अहित हो और राष्ट्र किसी संकट में पड़े। वह जहाँ एक ओर अपने वैयक्तिक धर्म का पालन करे वहीं सामाजिक धर्म के पालन में भी दृढ़ रहे और इस रीति से अपने राज्य का संचालन करे।

---

१. तस्मात् स्वधर्मभूतानां राजा न व्यभिचारयेत्।
स्वधर्मं सन्दधानो हि प्रेत्य चेह च नन्दति।। कौ. अ., पृ. १४

केवल कौटिल्य कालीन परम्परा में ही नहीं प्राचीन परम्परा से ही यह कहा जाता रहा है कि जब राजा और प्रजा में सामञ्जस्य होता है तभी राज्य में सर्वविध सम्पत्तियाँ फलवती होती हैं। इसी दृष्टि से कौटिल्य भी यदि राजा के लिए सद्मार्ग का निरूपण करते हैं और उसे यह निर्देश देते हैं कि वह अपने सभी कार्य प्रजा के हित को ध्यान में रखकर करे तो प्रजा के लिए भी उनका यह निर्देश है कि जो प्रजा आर्य मर्यादा में अवस्थित होती है, वर्णाश्रम धर्म से नियन्त्रित होती है वह तभी विद्या से सुरक्षित होती है वह कभी दुःखी नहीं होती। उन्होंने जिस त्रयी धर्म का वर्णन किया है उसमें प्रजा के सुख का हेतु त्रयी धर्म को बताया है। धर्म और अर्थ को महत्वपूर्ण मानने वाले कौटिल्य धर्म के मूल में अर्थ को मानते हैं और अर्थ पर आधारित काम को स्वीकार करते हैं इसलिए वे कहते हैं कि प्रजा तभी सुखी रह सकती है जब वह अपने धर्म का पालन करे। इस अर्थ में राजा जब धर्माचरण में लीन होता था तो प्रजा भी धर्मानुरूप व्यवहार करती थी और इस प्रकार राजा और प्रजा में समन्वय बना रहता था। जब राजा और प्रजा सामञ्जस्य पूर्ण जीवन व्यतीत करते थे तब समाज सुखी होता था और राज्य भी सुदृढ़ होकर दीर्घ काल तक चलता था। यही ऐसी दृष्टि है जो राजा और प्रजा के सामञ्जस्य को बहुत दिनों तक चलाती थी और जिससे राज्य सुदृढ़ होकर व्यवस्थित रीति से चलता था। जिसमें राजा तथा प्रजा दोनों मिलकर बहुत समय तक सुख के भागीदार रहते थे।

धर्म और समाज–

महर्षि वेदव्यास ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ महाभारत में यह निरूपित किया है कि धर्म से सम्पूर्ण प्रजा बँधी हुयी है। सबको धारण करने के कारण ही उसे धर्म कहा जाता है। धर्म मनुष्य को अधोगति में जाने से बचाता है, सबको धारण करता है और जीवन की रक्षा करता है।[१] वैशेषिक दर्शन के एक आचार्य ने यह लिखा है कि जिससे लोक में अभ्युदय हो, पारलौकिक निःश्रेयस की प्राप्ति हो वह धर्म है।[२] महर्षि याज्ञवल्क्य ने सदाचार को ही धर्म कहा है और वे सामान्य धर्म असाधारण धर्म, विशेष धर्म तथा आपद् धर्म के रूप में धर्म के चार स्वरूपों की स्थापना करते हैं। इस सन्दर्भ में उनकी यह व्याख्या है कि प्राणी मात्र के लिए जो कल्याणकारी नियम हैं वे मनुष्य के लिए सामान्य धर्म है जहाँ धर्म के दो रूपों में विरोध हो वहाँ काल और परिस्थिति के अनुरूप नियमों का व्यवहार करना असाधारण धर्म है। वर्ण और आश्रम के अनुसार निर्दिष्ट नियमों का पालन करना विशेष धर्म है और आपत्ति के समय प्राण रक्षा करना आपद् धर्म है।[३]

---

१. म. भा. शां., प. ६६।५८
२. वै. द. १।२
३. वै. सा. शां. द., पृ. १५६

कौटिल्य कालिक समाज में धर्म का जो स्वरूप था उसका विवरण देते हुये कौटिल्य ने यह लिखा है कि समाज में व्यक्ति के लिए यह आवश्यक है कि वह इस लोक में और परलोक में सुख पाने के लिए धर्म का पालन करे। वे धर्म को सामान्य धर्म के रूप में और विशेष रूप में दो प्रकार से देखते हैं। विशेष धर्म के रूप में उनका यह कहना है कि सभी अपने-अपने विशेष वर्णाश्रम रूपी शक्तियों का पालन करें जिससे वे स्वयं तथा समाज सुखी हो सके। सामान्य धर्म के रूप में सभी सत्य, अहिंसा, दया, दम आदि सद्गुणों का पालन करें जिससे उनका जीवन पवित्र हो। राजा लोभ न करे, इन्द्रियों का असंयत व्यवहार न करे और स्वछन्द आचरण करने वाला न हो। जहाँ एक ओर प्रजा अपने धर्म का पालन करे वहीं राजा के लिए आवश्यक है कि वह आपत काल की अवस्था में प्रजा का पालन करे। जिस समय में राजा और प्रजा इस प्रकार से धर्म का पालन करेगें वह समाज शान्ति और सुख का आधार बनेगा और अपने सद्गुणों से एक विशेष समाज के रूप में ख्याति प्राप्त करेगा। इस अभिप्राय से यह स्पष्ट होता है कि कौटिल्य समाज के लिए धर्म को एक महत्वपूर्ण कारक के रूप स्वीकार करते हैं और यह मानते हैं कि धर्म के द्वारा ही व्यक्ति और समाज सुशासित होकर सुखमय रूप में रह सकता है।

समीक्षा और निष्कर्ष–

कौटिल्य अर्थशास्त्र नाम से लिखा गया आचार्य कौटिल्य का यह ग्रन्थ विविध विषयों पर जिस प्रकार से अपने विचार व्यक्त करता है वे अपूर्व हैं। यदि इस ग्रन्थ का सांगोपांग अध्ययन करके इसके द्वारा दिये गये निर्देशों का पालन किया जाये तो किसी भी समाज को एक विशेष दशा में चलाया जा सकता है। यद्यपि कौटिल्य ने राजाओं को और राजपरम्परा से प्राप्त समाज को दृष्टि में रखकर इस ग्रन्थ की रचना की है और इन्हीं को निर्देश भी किया है तथापि ऐसा नहीं है कि कौटिल्य अर्थशास्त्र केवल राजाओं के लिए अथवा राजपरम्परा से शासित समाज के लिए ही उपयोगी है।

किसी भी समाज का अध्ययन करने के लिए जब हम उस समय की परम्पराओं का और व्यवस्थाओं का अवलोकन करते हैं तो उन्हें हम पूर्व काल से उत्तर काल तक की अविच्छिन्न परम्परा तक देखते हैं। इस अध्ययन में भी कौटिल्य के पूर्व जो सामाजिक व्यवस्था थी उसमें यह देखा गया कि तब पारिवारिक गठन समाज में हो चुका था। वर्णाश्रम व्यवस्था भी पूरी तरह से मान्य थी और सभी वर्णों के द्वारा तथा आश्रमों के द्वारा जो कार्य किये जाते थे उन्हें कर्तव्य रूप में मान्यता मिली थी। इस तरह से तब के समय में पारिवारिक स्थिति और सामाजिक स्थिति अपने श्रेष्ठतम आदर्शों को व्यक्त करती थी तथा पूरा का पूरा समाज आदर्श रूप में उपस्थित था।

आचार्य कौटिल्य ने अपने समय के समाज को जिस रूप में व्यक्त किया है उसमें उन्होंने उस समय के समाज का शैक्षणिक, राजनैतिक और धार्मिक स्वरूप प्रस्तुत किया है। जब कौटिल्य नें विद्याओं की स्थापना की और उसी माध्यम से पुरुषार्थ का विवेचन किया तो यद्यपि उन्होंने अर्थ को ही परम पुरुषार्थ माना किन्तु धर्म के बिना प्राप्त अर्थ उन्हें स्वीकार नहीं था। उन्होंने धर्म को दो रूप में स्थापित किया है। एक को कर्तव्य रूप में और दूसरे को भावात्मक रूप में। कर्तव्य रूप में प्रत्येक वर्ण वाला और आश्रम वाला अपने लिए निर्धारित जो-जो कर्तव्य करता था वही उसके लिए धर्म होता था। यह धर्म केवल सामान्य जन के लिए ही नहीं था अपितु राजा के लिए भी इस पर चलना आवश्यक होता था। इसी तरह से विद्याओं की प्राप्ति भी राजा के लिए और प्रजा के लिए समान रूप से आवश्यक होती थी।

यद्यपि कौटिल्य राज्य को महत्व देते हैं और वे यह चाहते हैं कि किसी भाँति राज्य व्यवस्थित बना रहे और इसके लिए वे कहीं-कहीं राजा के द्वारा अनैतिक व्यवहार भी स्वीकार कर लेते हैं तथापि उनका लक्ष्य यह है कि सभी नीति पर चलें और नैतिकता का पालन करें। इसलिए वे शत्रु राजा के साथ जय-पराजय में भी नैतिक व्यवहार को ही आधार बनाते हैं और उसी व्यवहार के द्वारा अपने राज्य की स्थापना करते हैं।

इस रूप में हम यह देख सकते हैं कि कौटिल्य अपने समय के समाज की पारिवारिक इकाई की प्रतिष्ठा के साथ-साथ राजनैतिक शक्ति को जिस रूप में प्रतिष्ठापित करते हैं वह न केवल उस समय के लिए उपयुक्त था, अपितु आज भी कौटिल्य के उन विचारों को वर्तमान परिपेक्ष्य में सुसंगत रूप में देखा जा सकता है। यद्यपि आज राजतन्त्र नहीं है और व्यवस्थाओं में पर्याप्त अन्तर भी है किन्तु व्यक्ति की सत्य निष्ठा के लिए आवश्यक है कि वह अपने लिए निर्धारित कर्म करे और नैतिक आचरण के द्वारा स्वयं को उचित रास्ते पर चलाता हुआ समाज के लिए प्रतिष्ठा का आधार बने। कौटिल्य व्यक्ति के लिए और व्यक्ति के द्वारा प्राप्त करने योग्य पुरुषार्थों के लिए नैतिक मार्ग पर चलने का निर्देश करते हैं। उनका यह निर्देश जितना तब के समाज के लिए सुसंगत और सार्थक था उतना आज भी सुसंगत और सार्थक है।
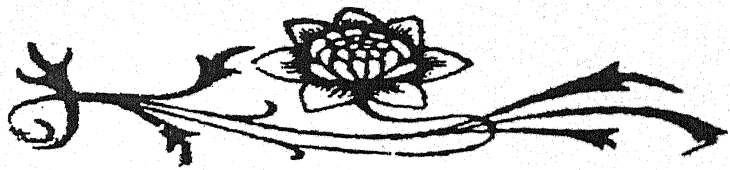
ग्रन्थ-संकेत-सूची

१. अग्नि पुराण — चौखम्बा संस्कृत सीरीज

२. अथर्ववेदे राजनीति — विनायक रामचन्द्र
सं. सं. वि. वि. १९८९

३. अभिज्ञान शाकुन्तलम् — डॉ. हरिदत्त शास्त्री
डॉ. शिवबालक द्विवेदी
ग्रन्थम् कानपुर-१९८३

४. अथर्ववेद

५. अरब और भारत सम्बन्ध -सुलेमान दवी
इलाहावाद-१९३०

६. आप्रस्तम्ब धर्मसूत्र

७. ईशादि द्वादशोपनिषद् — श्री कैलाश विद्याश्रम-१९७६

८. उपनिषद् अंक — (कल्याण) गीता प्रेस

९. उपनिषत् कालीन समाज एवं संस्कृति — -डॉ. राजेन्द्रकुमार
दिल्ली प्रकाशन

१०. ऋग्वेद — पारडी, सूरत-१९५७

११. ऐतरेयारण्यकोप निषद् — आनन्दाश्रम, पूना

१२. ऐतरेय ब्राह्मण — बम्बई-१९११

१३. कण्व का जीवन दर्शन — -डॉ. उमेशचन्द्र
ईस्टर्न बुक लिंकर्स-१९८८

१४. काशिका — वाचस्पति गैरोला
चौखम्भा विद्याभवन-१९६७

१५. कठोपनिषद्	गीता प्रेस, गोरखपुर
१६. कामन्दकीयनीति	वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई सं०-१९६१
१७. कौषीतकि उपनिषद्	गीता प्रेस, गोरखपुर
१८. कौटिलीय अर्थशास्त्र	वाचस्पति गैरोला विद्या भवन वाराणसी
१९. कौटिल्य का अर्थशास्त्र (समीक्षात्मक अध्ययन)	डॉ. उमाशंकर श्रीवास्तव नई दिल्ली-१९८८
२०. कौटिल्य का युद्ध दर्शन	डॉ. लल्लन सिंह प्रकाशक बुक डिपो बरेली-१९८४
२१. गौतम धर्मसूत्र	
२२. छान्दोग्योपनिषद्	गीता प्रेस, गोरखपुर
२३. जातक कालीन भारतीय संस्कृति	मोहनलाल महतो बिहार राष्ट्र भाषा परिषद् पटना-१९५७
२४. तैत्तरीय उपनिषद्	गीता प्रेस, गोरखपुर
२५. तैत्तरीय ब्राह्मण	आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थावली -१९०१
२६. तैत्तरीय संहिता	आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थावली -१९०१
२७. थ्योरी आफ गर्वन्मेन्ट इन एशिण्ट इण्डिया	श्री बेनीप्रसाद इलाहाबाद-१९७४

२८. दशकुमार चरितम्	डॉ. गदाधर त्रिपाठी अनुसन्धान प्रकाशन, कानपुर
२६. धर्मशास्त्र का इतिहास (प्रथम भाग)	उ.प्र. हिन्दी संस्थान -१६८०
३०. पञ्तन्त्रम्	एम.आर. काले मोतीलाल बनारसीदास-१६८२
३१. पदम् पुराण	सं. डॉ. अशोक चटर्जी
३२. पाणिनिकालीन भारतवर्ष	डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल
३३. प्रश्नोपनिषद्	गीता प्रेस गोरखपुर
३४. प्राचीन भारत की सांस्कृतिक भूमिका	डॉ.रामजी उपाध्याय लोकभारती प्रकाशन,इलाहाबाद -१६६६
३५. प्राचीन भारत	डॉ. राजबली पाण्डेय
३६. प्राचीन भारतीय राजनीतिक विचार एवं संस्थाएँ	श्री हरीशचन्द्र शर्मा कालिज बुक डिपो जयपुर
३७. प्राचीन भारत राज्य और न्यायपालिका	डॉ. हरिनारायण त्रिपाठी
३८. श्रीमद्भगवत गीता	गीता प्रेस, गोरखपुर
३६. भारतीय इतिहास की रूप रेखा	डॉ. जयचन्द्र विद्यालंकार

४०. भारतीय संस्कृति का विकास औपनिषद् धारा — डॉ. मंगलदेव शास्त्री

४१. भारतीय सैन्य इतिहास — डॉ. लल्लनजी सिंह, सिंह प्रकाशन-१६८०

४२. मनु स्मृति — बम्बई-१६४६

४३. मत्स्य पुराण — गीताप्रेस, गोरखपुर

४४. महाभारत

४५. मार्कण्डेय पुराण

४६. मिताक्षरा

४७. मुण्डकोपनिषद् — गीता प्रेस, गोरखपुर

४८. मैत्रायणी संहिता — स्वाध्याय मण्डल पारडी -१६४२

४६. याज्ञवल्क्य स्मृति — डॉ. उमेशचन्द्र, चौखम्बा-२०३६

५०. रघुवंश महाकाव्यम्

५१. राजनीति विज्ञान के सिद्धान्त — पुखराज जैन, साहित्य भवन आगरा

५२. राजनीति विज्ञान के मूलतत्त्व — डॉ. जी.डी. तिवारी, मीनाक्षी प्रकाशन

५३. वाचस्पत्यम् भाग-६ — चौखम्बा सीरीज १६६२

५४. वाल्मीकि रामायण में राजनीतिक विचार — प्रभाकर दीक्षित, परिमल पब्लिकेशन,दिल्ली -१६६१

५५. वाल्मीकि रामायण गीताप्रेस, गोरखपुर
५६. विष्णु पुराण प्रथम खण्ड संस्कृति संस्थान बरेली
५७. वृहत्त् हिन्दी कोश ज्ञानमण्डल लि० वाराणसी
५८. वृहदारण्यकोपनिषद् गीताप्रेस, गोरखपुर
५९. वेदकालीन राज व्यवस्था -श्यामलाल पाण्डेय हिन्दी समिति, लखनऊ
६०. वैदिक साहित्य संस्कृति और दर्शन डॉ. विशम्भर दयाल इलाहाबाद-१९८६
६१. वैदिक कोश डॉ. मधुसूदन शर्मा, जयपुर
६२. वैशेषिक दर्शन महर्षि कणाद
६३. वैदिक इण्डेक्स भाग-२ मैक्डानल एवं कीथ
६४. वैदिक इण्डेक्स भाग-२ मैक्डानल एवं कीथ
६५. शतपथ ब्राह्मण व्या० हि० वि० वि० सं० १९९४
६६. शुक्रनीति ब्रह्मशंकर मिश्र चौखम्बा संस्कृत सीरीज -१९६८
६७. शुक्ल यजुर्वेद
६८. सिद्धान्त कौमदी-४ चौखम्बा संस्कृत सीरीज -१९५८

६९. संस्कृत इंगलिस डिक्शनरी	
७०. संस्कृत शब्दार्थ कौस्तुभ	ज्ञानोदय प्रेस, इलाहाबाद
७१. हिन्दू सभ्यता	श्री वासुदेव शरण अग्रवाल राजकमल प्रकाशन-१९६६
७२. हिन्दू राज्य शास्त्र	अम्बिका प्रसाद बाजपेई हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग-१९८४
७३. हिस्ट्री आफ ह्यूमन मैरिज जिल्द-३	वेस्टर मार्क सं० १९२१
७४. हिन्दू राज तन्त्र	डॉ. काशीप्रसाद जायसवाल नागरी प्रचारणी सभा